सिद्धयोग

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्तों और
शिक्षाओं का
प्रतिपादक मासिक

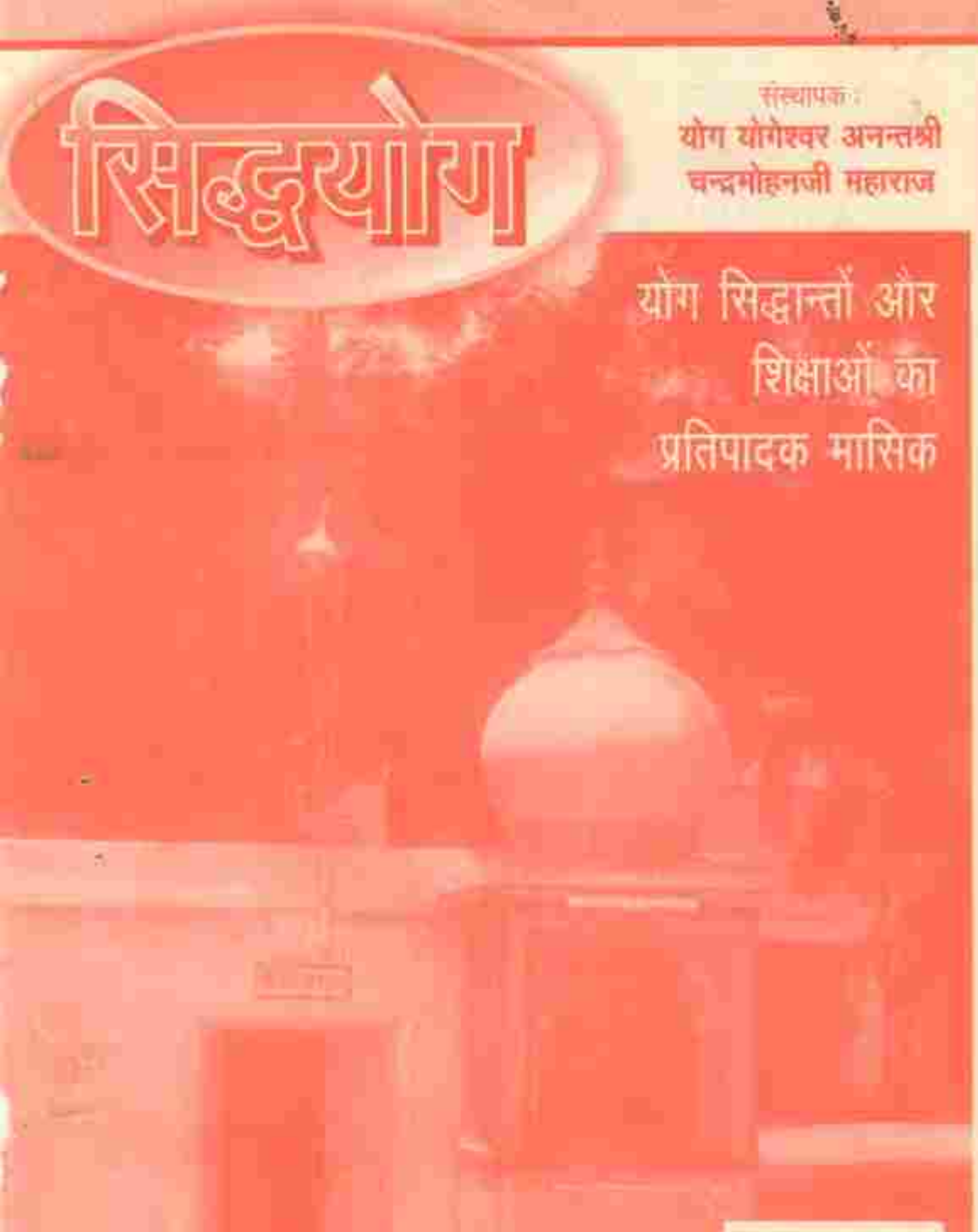

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
संवाई (आगरा) - 283 202 (उ.प्र.)

वर्ष : 35
अंक : 11-12
फरवरी-मार्च 2003

SIDDHYOG
MONTHLY

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
डा० विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार
मण्डलों के अध्यक्ष
एवं
गुरु भाई-बहिन

एक प्रति	रु०	9-00
वार्षिक शुल्क	रु०	90-00
द्विवार्षिक	रु०	170-00
आजीवन	रु०	800-00

इस अंक में

- अमृत कण 2
- योगानुभूति कैसे ?
  (विशेष लेख) 3
- सम्पादकीय 7
- रामकृष्ण परमहंस की अमृतवाणी.. 11
- जी भर कर हँसिये
  वेदव्रत दीक्षित 17
- समर्पण गीत
  राजेश कुमार सिंह 18
- कथनी, करनी और रहनी
  प्रो० आचार्य चन्द्रहास शर्मा 19
- असम्प्रज्ञात समाधि 22
- भाव-प्रसून
  श्रीमती सरिता भारद्वाज 23
- ध्यान योग
  अशोक दिग्विजय 24
- तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम !
  डा० कृष्णवीर सिंह तोमर 31
- नववर्ष २००३ इत्ययमरेऽभिनन्दनम्
  द्वारिका प्रसाद शर्मा 32
- हिन्दी रूपान्तर
  विनीत 32
- धर्म का प्रयोजन
  स्वामी हृषीकेशानन्दजी महाराज 33
- रोम-रोम दिव्य ज्योति प्रभु की छलकि रही
  डा० कृष्णवीर सिंह तोमर 38
- विनय पद
  इन्दु शर्मा 38
- मनो दुर्निग्रहं चलम्
  द्वारिका प्रसाद शर्मा 39

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 35
अंक 11-12

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखविवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं पठतु विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणं भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

फरवरी-मार्च
2003

भवतु मेऽद्य स दीनबन्धु

यस्मादिदं जगदुदेति चतुर्मुखाद्यं
यस्मिन्नवस्थितमशेषमशेषमूले।
यत्रोपयाति विलयं च समस्तमन्ते
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः।।
चक्रं सहस्त्रकरचारु करारविन्दे गुर्वी
गदा दरवरश्च विभाति यस्य।
पक्षीन्द्रपृष्ठपरिरोपितपादपद्मो
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धु।।

अर्थात्

जिन परमात्मा से यह ब्रह्मा आदिरूप जगत प्रकट होता है और सम्पूर्ण जगत के कारण भूत जिस परमेश्वर में यह समस्त जगत स्थिर है तथा अन्तकाल में यह समस्त जगत जिसमें लीन हो जाता है, वे दीनबन्धु भगवान् आज मेरे नेत्रों के सामने दर्शन दें। जिनके करकमल में सूर्य के समान प्रकाशवान् चक्र, भारी गदा और श्रेष्ठ शंख शोभित हो रहा है, जो पक्षिराज (गरुड़) की पीठपर अपने चरण कमल रखे हुए हैं, वे दीनबन्धु भगवान् आज मेरे नेत्रों के समक्ष दर्शन दें।

अमृत कण

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/३४)

तुम मुझ में ही मन रखो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मेरी शरण होकर आत्मा को गुरू में समाहित करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

* * *

दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्नवोदिता यासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते।

(योग वाशिष्ठ)

दृश्य पदार्थों के असम्भव होने के बोध से रागद्वेष क्षीण होते हैं, तब जो नवीन रति होती है, उसे ब्रह्माभ्यास कहते हैं।

* * *

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

जिन अधिकारियों का आत्मविषयक अज्ञान, ज्ञान से नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान उस वेदान्त प्रसिद्ध परम तत्व को प्रकाशित कर देता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्मा की स्वरूप भूत निरतिशय शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

* * *

मनीं ईश्वराचे चरण। सर्वभावो त्यास शरण।
योजे ऐसे अन्तःकरण। योग म्हणावे त्याला।।

(यथार्थ दीपिका)

मन में ईश्वर के चरण हों, सब प्रकार के चित्त उन्हीं की शरण हो, ऐसा अन्तःकरण हो जाये, इसी का नाम योग है।

विशेष लेख

योगानुभूति कैसे ?

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगियों के विश्व इतिहास को पढ़कर और उनके दिव्य चरित्रों को सुनकर हर एक मनुष्य के मन में यह भावना पैदा होती है कि मैं योगी बन जाऊँ। साधक अपने जीवन को चमत्कारिक जीवन बनाना चाहता है। वह चाहता है कि मैं संसार के सामने शक्ति पुञ्ज बनकर निकलूँ। संसार वाले मुझे आश्चर्य से देखें। श्रीराम और श्रीकृष्ण का वैभव मेरे शरीर में दिखलायी दे। मैं जो चाहूँ कर सकूँ। मेरी यदृक्षा गति हो। मैं गोपीचन्द्र भर्तृहरि की तरह से अजर अमर होकर के संसार में विचरूँ। काक भुसण्डि की तरह से मनुष्य लोक और देवलोक की हजारों प्रलयों को देखता रहूँ। किन्तु मैं स्वयं प्रलय के अन्दर विलीन होने वाला प्रलयभागी जीव न रहूँ, यही सब भावनाएँ हैं जो मनुष्य को योगमार्ग में प्रवृत्त होने को बाध्य कर देती है किन्तु योग प्रतीति कैसे हो हम योग मार्ग कैसे जानें ? यह कुछ प्रश्न इस प्रकार के हैं जिनको मनुष्य हल नहीं कर पाता। **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'** के अनुसार प्राणी अपनी विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को मन में धारण करके अपने मार्ग का चयन करता है किन्तु यह चयन किया हुआ मार्ग उसको अपने लक्ष्य तक पहुँचा देगा यह कुछ नहीं कहा जा सकता। यही कारण रहा कि विभिन्न प्रकार के मतभेदों को मन में धारण करके प्रचालकों ने लोगों के सामने विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों की स्थापना की। मत मतान्तर चलाये एवं अपने आप को दुनिया के सामने नए रूप में उपस्थित किया तथा कुछ इने गिने लोगों को अपने पीछे चला भी लिया किन्तु अन्ततः निष्कर्ष रूप में परिणाम कुछ भी नहीं निकला। **"सूर्यचन्द्र मसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत"** के नियमानुसार उनके सिद्धान्त की भी वही गति हुई। खूब प्रचार किया, व्याख्यान दिये, लोगों के मन में विभिन्न प्रकार के मतभेद पैदा किए, किन्तु जब अपनी ओर आँख उठाकर देखा तो पता चला कि जहाँ के तहाँ खड़े हैं। किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं हो पायी। इसका कारण है अपना अज्ञान, अकर्मण्यता एवं बुद्धिलौल्य। हमारे शास्त्र का आदेश है कि मनुष्य जिन बातों को स्वयं न जानता हो तब उसको शास्त्रों का अवलम्ब लेना चाहिये। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया है कि हे अर्जुन जो शास्त्र विधि को छोड़कर के मनमाने ढंग से चलता है वह न सिद्धि को ही पा सकता है न सुख शान्ति और पूर्ण परमगति को ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए जहाँ पर कार्य और अकार्य की व्यवस्था है वहाँ पर शास्त्र को प्रमाण मान लेना चाहिए और शास्त्र विधानोक्त कर्म करना चाहिए; न कि अभिमान के गर्त में पड़कर बिना सिद्धान्त के जाने और समझे अनेक प्रकार के निर्णय दे डालें। केवल लौकिक प्रतिष्ठा को सामने रखकर नेतृत्व का

अधिकार बढ़ायें एवं अपने आप को साक्षात् कृत धर्मा बनाकर के सिद्धान्तों का निर्णय दें। मनुष्य को योग प्रतीति कैसे हो इसके विषय में हमारे शास्त्रीय निर्णय तीन प्रकार के है। वही सब बातें सर्वत्र संसार में देखने में भी आती है–

योग प्रतीति का प्रथम प्रकार–संसार में कुछ इस प्रकार के व्यक्तियों का प्रादुर्भाव देखने में आता है कि जो जन्म के ही अभ्यासी थे उनके अन्दर जन्मजात सिद्धियाँ थी। उनके जीवन जन्म–ग्रहण करते ही चमत्कारिक थे। उनकी दिव्य कथाएँ उनकी अलौकिकता को प्रगट करती है। उदाहरण के लिए कबीर आदि की जीवन कथाएँ उनकी जन्म जात दिव्यता को बताती हैं। कबीर दास के अतिरिक्त गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि–आदि के विषय में भी अनेक कथानक मिलते हैं। यह सब उनकी जन्मजात सिद्धियों के परिचायक है। अर्थात् यह सब जन्म ग्रहण करते ही शक्तिमान थे और स्वतः ही इनको योग प्रतीति ही आरम्भ हो गयी थी। इस विषय में भगवान पतंजलि स्वयं अपना निर्णय देते हैं–

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्।
विदेहानाम् देवानाम् प्रकृतिलयानाञ्च भव प्रत्ययो भवति।।

अर्थात् जिन योगियों को आनन्दानुगति प्राप्त हो जाती है और विशुद्ध सत्व के भावों को अनुभव करते हुए लोग उसमें अपने आपको लय कर डालते हैं, उनको देह धर्मों का आभास बिलकुल नहीं रहता। ऐसे लोग विदेह कहलाते हैं। उनका चित्त साधिकार होता है। अधिकारावधि तक ही चिन्तन करने वाला होता। इसलिए स्वसंस्कारोप भोग पर्यन्त इन योगियों का चित्त अपने आपको मुक्त समझता है। क्योंकि वह साधिकार है। परानुभूति को पहुँच नहीं सका है। अतः उसको जन्म ग्रहण करना पड़ता है। और इसी प्रकार से जो लोग अभ्यास करते–करते प्रकृति–लीन हो जाते हैं, उनका भी चित्त साधिकार होने से जन्म से ही योग प्रतीति हो जाया करती है। देखिये इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव का भाष्य–

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः, तेहि स्वसंस्कार
मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्तः
स्वसंस्कार विपाकं तथा नातीयकमति वाहयन्ति।
तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने
कैवल्यपद मिवानुभवन्ति। यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार
वशाच्चित्तम् इति।।

विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के विषयों का वर्णन करते हुए वायु पुराण में इस प्रकार लेख मिलता है इसका भावार्थ है कि हे अर्जुन जो पुरुष इन्द्रियों का चिन्तन करते हुए, गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र, रूप तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, शब्द तन्मात्र आदि इन्द्रिय तत्वों का चिन्तन करते हुए प्रकृतिलीन है वे लोग दशमनवन्तर तक प्रकृतिलीन रहकर कैवल्य पद जैसा अनुभव करते हैं। फिर उसके बाद साधिकार चित्त होने से उनको पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है और

इसी प्रकार सौ मनवन्तर महाभूतों का साक्षात्कार कर लेने पर अहं वृत्ति को धारण करने वाले हजार मन्वन्तर विगत ज्वर होकर अपने आपको कैवल्य जैसा अनुभव करते हैं।

इसके अतिरिक्त सौ सहस्त्र मन्वन्तर अव्यक्त प्रकृति में लीन होने वाले योगी अपने आपको कैवल्य जैसे सुख के उपभोक्ता होकर चित्त साधिकार होने से पुनर्जन्म ग्रहण कर लेते हैं। और उनको भी जन्म ग्रहण करते ही योग की प्रतीति हो जाया करती है।

निर्गुणं पुरुषं प्राप्य काल, संख्या न विद्यते।

इससे आगे गुणाधिकार समाप्त हो जाने पर जब मनुष्य निर्गुण चैतन्य को प्राप्त कर लेता है तो उसके चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है। पीढ़ी दर पीढ़ी जुड़ा हुआ भाव जाल टूट जाता है। सब संशय नाश हो जाता है। कर्म बन्धनों का क्षय हो जाता है। हृदय ग्रन्थि घुल जाती है। ऐसा योगी पूर्ण रूपेण कैवल्यपाद का अनुभव करने वाला बन जाता है, यही पराकाष्ठा है। और यही परागति है। सब लेख का केवलमात्र एक ही सार है और वह यह है कि विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को (जिनका ऊपर के लेख में वर्णन हो चुका है) जन्म से ही बिना किसी साधना के किये योग की प्रगति हो जाया करती है। यद्यपि ये लोग योग–भ्रष्ट है। किन्तु फिर भी इनका जन्म जन्मान्तर कृत श्रम व्यर्थ नहीं जाता।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी विषय को लक्ष्य रखने वाला एक प्रश्न अर्जुन ने भगवान श्री कृष्णचन्द्र से किया है–

हे कृष्ण जो साधक योग से विचलित मन हो गया है और श्रद्धा पूर्णरूपेण उसमें कायम है और प्रयत्न कुछ बन नहीं पाता ऐसा साधक योग संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है। कदाचित वह साधक परमात्मा के मार्ग में चलता हुआ विमूढ भाव को प्राप्त होकर उभयतो भ्रष्ट आश्रम रहित आकाश में फटे हुए बादल के समान नष्ट तो नहीं हो जाता। हे कृष्ण ! तुम मेरे संशय का नाश करो। तुमसे बढ़कर इस संशय का नाश करने वाला दूसरा नहीं हो सकता है। भगवान श्री कृष्ण ने उत्तर में कहा–

हे अर्जुन ! उस व्यक्ति का इस लोक और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। क्योंकि कल्याण–मार्ग पर चलने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता है। ऐसा योगाभ्यासी व्यक्ति स्वकर्म जन्यादुर्विपाक से योग भ्रष्ट हो भी जाए तो वह व्यक्ति पवित्र श्रीमानों के घर जन्म ग्रहण कर लेता है। यहाँ पर पवित्र श्रीमानों का अर्थ उन लोगों से है जिनका ऐश्वर्य सत्कर्मों में व्यय होता रहता है। जो लोग परोपकारार्थ कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि बनाते हैं अन्य क्षेत्र आदि चलाते हैं और साधु, महात्मा, तपस्वियों की सेवा करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त आत्म चिन्तन, हरि गुण गायन एवं ऐश्वर्यवान होते हुए भी योग परायण रहते हैं वही लोग पवित्र श्रीमान कहाते हैं। ऐसी श्रीमानों के घर में ही उस योग भ्रष्ट साधक का महान पुण्य लोक स्वर्गादि का उपभोग हो जाने के बाद पुनः इस लोक में जन्म हुआ करता है। या इसके अतिरिक्त बुद्धिमान

योगियों के घर में जन्म हो जाया करता है। इस प्रकार का जन्म प्राप्त करना भी अत्यन्त दुर्लभ है। पुनः मनुष्य लोक में जन्म हो जाने के बाद वह साधक पूर्वाभ्यास से प्रेरित होकर पुनः अपने योगाभ्यास के लिए दृढ़तर प्रयत्न करता है। यह तो योगाभ्यास की श्रेणी है। इसके अतिरिक्त जो योगाभ्यास का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड से आगे निकल जाता है और उसके बाद—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु,
योगी संशुद्ध किल्बिषः।
अनेक जन्म संसिद्ध,
स्ततो याति परां गतिम्।।

लगातार प्रयत्न करता हुआ साधक पाप रहित होकर के अनेक जन्मों के प्रयत्नों से परम श्रेय को प्राप्त हो जाया करता है। योगी दर्जा सब प्रकार से उत्तम है। जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण का आदेश है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन।।

अर्थात्, योगी का दर्जा तपस्वियों से, ज्ञानियों से, परम ज्ञानियों से सब प्रकार से उत्कृष्ट है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बनो। इस छोटे से लेख की निम्नलिखित पंक्ति में 'भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम' इस सूत्र की व्याख्या 'भव प्रत्यय' को बतलाने का प्रयत्न किया। विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को जन्म से ही योग की अनुभूति हो जाया करती है। जन्म जन्मान्तर कृत अभ्यास एवं पूर्वोपार्जित पुण्य विशेष ही योगी का पग—पग पर सहायक होता है। वह पूर्वाभ्यास ही 'योगिनोयोग एवोपाध्याय' के नियमानुसार स्वयं ही उसका गुरु बन जाता है और साधक की पग—पग पर मदद करता है और वह साधक उस सहायता को पाकर के उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। किन्तु उस साधक को चाहिए कि वह यदि जन्म—जन्मान्तर के पुण्य प्रभाव से पवित्र योग मार्ग की सद्गति पा जाए तो अल्हड़, आलसियों की तरह से काल यापन न करता रहे। ऐसा करना अपने अमूल्य समय को व्यर्थ में खोना ही होगा।

शास्त्र का सिद्धान्त है कि—

ना तपस्विनो योगः सिद्धयति।

अर्थात् जो तपस्वी नहीं है उसको योग सिद्धि नहीं हुआ करती। सिद्धि चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह तत्परता के साथ तपश्चर्या करता हुआ संयतेन्द्रिय होकर अलभ लाभ हो जाने पर भी अपनी साधना को करता ही जाए। ऐसा करता हुआ वह अवश्य ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। ※ ※ ※

● सम्पादकीय

योग साधना एवं सिद्धियाँ

आचार्य (डा०) दासलाल शर्मा

जीव के लक्षणों में प्रथम लक्षण इच्छा है। इच्छा की पूर्ति के लिये वह निरन्तर प्रयत्नशील रहा करता है। ईश्वर जीव के प्रयत्न एवं भावना की पात्रता के अनुसार उन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही भावानुसार ईश्वर ने अनेक लोकों एवं शरीरों की व्यवस्था बनाई है। यह तो जीवों के लिये सामान्य व्यवस्था की बात है। इसमें समय अथवा काल तत्व का विशेष महत्व है। क्योंकि सृष्टि संचालन में काल की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सृष्टि की हर वस्तु इस काल तत्व के ही आधीन है। बौद्धेय स्तर के सभी जीव इससे आबद्ध है। जीवों की इच्छा पूर्ति में काल तत्व का विशेष महत्व है। मनुष्य की इच्छा की पूर्ति तत्क्षण क्यों नहीं हो पाती अथवा यूँ कहिये कि मनुष्य अपने मन की इच्छानुसार अभीष्ट वस्तु को पाने में तत्क्षण सक्षम क्यों नहीं हो पाता ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर होगा कि मनुष्य की इच्छाओं में शक्ति नहीं है। ज्यों–ज्यों शक्ति का विकास होगा त्यों–त्यों इच्छा शक्ति के प्रभाव से अभीष्ठ ज्ञान अथवा वस्तु की प्राप्ति होती है। इस इच्छा शक्ति को पूर्ण विकसित करने के विज्ञान को ही योग कहते हैं। जितनी मन की एकाग्रता अथवा सूक्ष्मता प्राप्त कर ली जाती है, यह शक्ति बढ़ती चली जाती है। योगी जिस प्रकार से अपनी इच्छानुसार सारे कार्यों को इच्छाशक्ति के बल पर तुरन्त कर लिया करता है दूसरे मनुष्य ऐसा नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि हमारा मन कर्मजाल एवं संस्कार समूह से आबद्ध है। कर्म की मजबूत गाँठ पड़ जाने पर मन की इच्छाओं को हम तुरन्त साकार नहीं कर पाते। अर्थात् हमारा मन कर्मरूपी डोर से बंधा हुआ होने के कारण हम इच्छा को तुरन्त पूर्ण कर नहीं पाते। मान लो हमारा कोई मित्र सुदूर देश में किसी संकट में है। हम उसकी किसी भी प्रकार से सहायता करना चाहते हैं। किन्तु वहाँ जाने का कोई साधन ही नहीं है, ऐसी स्थिति में सामान्य मनुष्य अपने मन को मार कर बैठ जायेगा जब कि योगी उसकी हर प्रकार से तत्काल सहायता कर सकेगा। यह योगी की क्षमता पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार से सहायता करता है। शक्ति सम्पन्न योगी तुरन्त अपने मन के वेग से वहाँ पहुँच जायेगा। एवं सशरीर उपस्थित होकर उस पर कृपा करेगा एवं उसकी रक्षा कर सकेगा। अथवा निर्माण चित्त एवं निर्माण कार्य से प्रकट होकर कृपा करेंगे। इस उदाहरण से यह बात तो स्पष्ट हो गई कि जीव में इच्छायें तो हैं किन्तु उन्हें हम करतलगत नहीं कर पाते, जबकि ईश्वर या योगी चाहने मात्र से (इच्छा मात्र) से सब कुछ करने में समर्थ होते हैं। वे हर वस्तु इच्छामात्र से तत्काल प्राप्त कर लेते हैं, समय का बंधन वहाँ नहीं है।

हमारे पुराणों और धर्मशास्त्रों में योगियों और ऋषि मुनियों के वर–शाप के चरित्र भरे पड़े हैं। यह कैसे फलीभूत होता है ? योग विज्ञान में इसका भी एक वैज्ञानिक आधार है। सांख्य शास्त्र का एक आधारभूत सिद्धांत है **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**। अर्थात् जो वस्तु है ही नहीं उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो अस्तित्व में है उसका अभाव अथवा नाश नहीं होता। यह बात भी सत्य है कि संसार में हर वस्तु प्रतिक्षण परिणमन अथवा परिवर्तन की ओर अग्रसर है। हम जिसे सामान्य अर्थों में नाश होना मानते हैं वह वस्तु का परिणामान्तर ही है सांख्य के अनुसार **'नाशो कारणलयः'** किसी वस्तु का अपने कारण में लय होना ही नाश है। जैसे जल को यदि उष्णता मिल जाये तो वह वाष्प बनकर सूखकर समाप्त हो जाता है। और उसका वाष्प बनकर वह बादल के रूप में बदल जाता है। इस प्रकार से जल नष्ट होकर अपने कारण बादल में मिल गया। यही स्थिति हर वस्तु के विषय में है।

ऋषियों के वर–शाप का प्रसंग चल रहा था। शाप के उदाहरण के रूप में एक प्रकरण राजा नहुष का आता है। वह इन्द्र पद पर आसीन हो गया और मदान्ध होकर उसने सप्तऋषियों को ही अपनी गाड़ी में बैलों की जगह पर जोत लिया। ऋषियों पर कोड़े बरसाने लगा। ऋषियों ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया कि तू अभी अजगर हो जा। वह अजगर बन गया। यह कैसे सम्भव होता है आइये इस पर योग सिद्धान्त के अनुसार विचार करें। इस संसार में धर्म एवं अधर्म दो संसार चक्र के आपूरक घटक हैं। धर्म से पुण्य होता है जिसका परिणाम सुन्दर देह, सुख, यश, अपयश, कुमति एवं दरिद्रता आदि होते हैं। ये धर्म–अधर्म दोनों मनुष्य के चित्त में रहते हैं। योग दर्शन में आया है–**'चित्त नदी नाम उभयतो वाहिनी। वहति पापाय च वहति पुण्याय च'** अर्थात्–यह चित्त दो धाराओं में बहने वाली नदी की तरह है यह कल्याण के लिये भी बहती है और पाप के लिये भी। इस प्रकार से चित्त भी पाप–पुण्य के प्रवाह में निरन्तर बह रहा है। भौतिक बाह्य प्रकृति पर भी इसका प्रतिबिम्ब पड़ा करता है। ऋषियों ने नहुष को अजगर बन जाने का शाप दे डाला। अब वह देव शरीर को छोड़कर अजगर का शरीर धारण कर लेंगे। इस सम्बन्ध में योगदर्शन का सूत्र है। **'जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्या पूरात'** अर्थात् प्रकृति के आपूरण से योगी एक शरीर को छोड़ दूसरे किसी भी शरीर को धारण कर लेता है योगी जब अपने शरीर के घटक को बदल लेता है तो वह दूसरे के शरीर के घटक को भी बदल सकता है।

क्योंकि शरीर के कारणभूत पंचमहाभूत एवं इन्द्रियों के कारणभूत अस्मितातत्व पर उसका अधिकार होता है। ऋषियों के शाप से नहुष के धर्म प्रवाह का क्रम कट गया तथा अधर्म का प्रवाह बह चला। ऋषियों के संकल्प से अधर्म के अनुरूप परमाणुओं के संगठन से तुरन्त अजगर के शरीर एवं इन्द्रियादि अवयवों का संघातरूप अजगर का शरीर व्यक्त हो गया। योगी का परमाणु से लेकर महत्तत्व पर्यन्त सभी तत्वों पर अधिकार होता है। पंच महाभूत और सूक्ष्म प्रकृति भी योगी के संकल्प के पीछे–पीछे वैसे ही चलते हैं, जैसे नव प्रसूता गौ बछड़े का

अनुगमन करती है। ये धर्म अधर्म प्रकृति एवं परमाणुओं के नियोजक नहीं हुआ करते हैं क्योंकि धर्म–अधर्म स्वयं ही प्रकृति के ही कार्य हैं। ये धर्म और अधर्म का भण्डार प्रकृति में विद्यमान रहता है। जिस प्रकार से खेत में पानी भरने के लिये किसान क्यारियाँ बना लिया करता है और एक क्यारी के पानी से भर जाने पर दूसरी क्यारी के मेड़ को तोड़ देता है तो पानी स्वतः ही दूसरी क्यारी में चला जाता है। इसी प्रकार से धर्म–अधर्म की व्यवस्था है जीव के कर्मानुसार इन का परिवर्तन चक्र बदलता रहता है योगियों के शाप से संकल्प के कारण तुरन्त ही वह कर्म मूर्तरूप में व्यक्त हो जाता है क्योंकि मन प्रकृति के सभी तत्वों में सूक्ष्मतम होने से सर्वाधिक शक्तिशाली यही सिद्धान्त वरदान में भी लागू हो जाता है।

नन्दी साधारण मानव होते हुये भी भगवान शिव की कृपा से तत्काल देवत्व को प्राप्त हो गया। यहाँ एक बात और यह भी है कि मनुष्य कोई पापाचरण आदि करता है तो ईश्वर के संविधान क्रम के अनुसार उस मनुष्य को अगले जन्म में निम्न योनियों वाले शरीरों में जाना पड़ता है लेकिन इस प्रक्रिया में काफी समय लगता है जबकि योगी अथवा सिद्ध के संकल्प से वर एवं शाप से परिणामान्तर होने में चुटकियों की ही देरी रहती है। इस प्रकार से एक बात तो निश्चित हो ही गई कि हमारे सुख व दुःख के कारण धर्म–अधर्म ही है। यदि योग की भाषा में कहा जाये तो सतोगुण का फल सुख होता है। गीता में भगवान ने **'सत्वं सुखे संजयति'** कहकर इसकी पुष्टि की है। सतोगुण की वृद्धि में छूटे हुये शरीर वाले ऊर्ध्व लोकों में जाते हैं। जहाँ सुखाधिक्य है मन्त्र जाप एवं ध्यान से शीघ्र ही सतोगुण की वृद्धि होती है और मन की शक्ति बढ़ जाती है। जिससे धर्मपक्ष प्रबल होता है और अभीष्ट कार्यों की सद्यः सिद्धि हो जाया करती है। इसके विपरीत **'रजसस्तु फलं दुःखम्'** रजोगुण का फल दुःख होता है। रजोगुण की वृद्धि से रोग, संकट एवं अनेकानेक दुःख बढ़ जाते हैं। इसलिये ही कहा जाता है कि साधक को सतोगुण का वर्तन करके दैवी सम्पत्ति का विकास करना चाहिये।

हमारे गुरु–भाई बहिनों के जीवन में भी जब दुःख का दौर चलता था—जैसे घोर बीमारी, पदावनति, अपयश, कारावास तथा इसी प्रकार से अन्य कोई संकट उत्पन्न हो जाता था तो हम लोग तुरन्त श्री गुरुदेव जी के पास पत्र भेजकर संकट से उबारने की प्रार्थना करते थे। गुरुदेव या तो अपने संकल्पित प्रसाद भेजकर संकट दूर कर दिया करते थे अथवा उपाय के रूप में पत्र लिखवाया करते थे—लल्ला ! अपने गुरुमन्त्र का [illegible] २ घण्टे जाप करो एवं नित्य १ घण्टा ध्यानाभ्यास करो इससे तुम्हारी सब बाधा हट जायेंगी ! साधारणतया हर व्यक्ति को यह रहस्य समझ में नहीं आता था किन्तु यह भी धर्म प्रवाह को द्रुततर गतिमान करने का उपाय होता था जिससे सामने आया अधर्म चक्र समाप्त हो जाये और पुनः धर्म प्रवाह प्रवाहित रहे। इस प्रकार से मानव के जीवन में आने वाले हर संकट एवं प्रतिकूल परिस्थिति से निपटने के लिये व्यक्ति को धर्म एवं पुण्य का सम्पादन दृढ़ता से करना चाहिये। अस्तु !

सिद्धयोग की परम्परा में गुरुदेव अपने शिष्यों पर तीव्र शक्तिपात करके उसे समाधि

अवस्था प्रदान कर देते हैं समाधिवान योगी में स्वाभाविक ही वर–शाप की क्षमता रहती है। उच्च स्थिति वाला योगी अपने से निम्न स्तर के योगी के वर–शाप को काटने में समर्थ हुआ करता है। समाधि प्राप्त करा देने पर सिद्ध योगी शिष्यों को हिमालय में ही समाधिस्थ बैठा दिया करते हैं। ताकि जन–समूह से दूर रहे। क्योंकि कभी–कभी योगी समाधि भंग होने पर व्यवहार दशा में भी आते है ऐसे मौके पर फिर लोगों से सम्पर्क होने पर वर–शाप का चक्र चल सकता है जिससे योगी के पतन का भय रहता है, अतः इस पतन से बचाने के लिये ही गुरुदेव उन्हें जन समूह से दूर रखते हैं। सिद्ध गुरु चाहे तो अपने शिष्य के वर–शाप की शक्ति को अपने पास सुरक्षित रख सकते हैं ताकि साधक इसके दुरूपयोग से बच जाये। पूज्यपाद योगीराज स्वामी मुल्खराज जी महाराज भी वर–शाप दे दिया करते थे। एक बार श्री आनन्दकन्द प्रभु जी ने उनके इस सामर्थ्य को वापिस ले लिया। बाद में एक बार ऋषिकेश आश्रम में एक पुलिस का दरोगा आकर किसी कारण से बड़बड़ाने लगा। उस समय श्री मुल्खराज जी महाराज के मुख से निकल पड़ा–"क्या करें, श्री प्रभु जी ने हमारी ताकत वापिस खींच ली है, नहीं तो इस दरोगा को हम यहीं उल्टा कर देते"। अस्तु।

इस प्रकार से वर एवं शाप का झमेला भी साधक के मार्ग में बहुत बड़ा विघ्न है। यदि मन पर नियन्त्रण नहीं है तो साधक वर–शाप के घेरे में आकर फिर पाप–पुण्य एवं जन्म मरण के चक्र में पड़ जाता है। इसलिये साधक को गुरु चरणानुरागी बनकर अपनी साधना में ही रत रहना चाहिये।

***

आत्मा जब कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर में बँध जाती है, अहंकार का पर्दा पड़ने से वह कैद में आ जाती है, तब उसे आत्मा की संज्ञा जीव को जाती है। जीव ईश्वर समान नहीं हो सकता है। हाँ जीवन में कभी ऐसा समय आ सकता है जब करुणामय भगवान की दया से जीव का सम्बन्ध ईश्वर से जुड़ जाय।

विभिन्न प्रकार के सिद्ध पुरुष

लोग नहीं समझते कि विज्ञान केवल इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्रदान करता है, इन्द्रियातीत राज्य की कोई खबर वह नहीं देता। प्राचीन ऋषियों ने ईश्वर का साक्षात्कार किया था। वे ही यह खबर दे सके थे, वे कह सके थे, 'ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार है।'

जग में पाँच प्रकार के सिद्ध पुरुष दिखाई देते हैं:—(१)**स्वप्नसिद्ध**—ये स्वप्न में दर्शन प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं। (२) **मन्त्रसिद्ध**—ये मन्त्र जपते हुए सिद्ध हो जाते हैं। (३) **अकस्मात्सिद्ध** जैसे कोई गरीब आदमी जमीन के नीचे गड़ा खजाना पाकर या किसी धनी व्यक्ति की लड़की से विवाह कर एकाएक धनवान बन जाता है, उसी प्रकार कई पापी लोग अचानक स्वयं को बदल डालकर ईश्वरीय राज्य में पहुँच जाते हैं। इन्हें अकस्मात्—सिद्ध कहा जाता है। (४) **कृपासिद्ध**—केवल ईश्वर की कृपा से ही जो सिद्ध हो गये हैं, वे कृपासिद्ध कहलाते हैं। जिस प्रकार किसी को जंगल की सफाई करते—करते पुराने तालाब, मकान आदि मिल जाते हैं, फिर उसे स्वयं कष्ट उठाकर यह सब तैयार नहीं करवाना पड़ता, उसी प्रकार कई जन मामूली सी साधना करते ही सिद्ध हो जाते हैं। (५) **नित्यसिद्ध**—ये जन्मतः सिद्ध होते हैं। जैसे लौकी या कुम्हड़े की बेल में पहले फल आते हैं, पीछे फूल वैसे ही नित्य सिद्ध लोग पहले से सिद्ध होते हैं, बाद में वे लोकशिक्षा के लिए साधना करते हैं।

शक्तमतानुसार सिद्ध पुरुष को 'कौल', वेदान्तमतानुसार 'परमहंस' और 'बाउल' नामक वैष्णवमतानुसार 'सोंई' कहते हैं।

कुछ लोग होते हैं जो आम खाकर मुँह पोंछकर बैठे रहते हैं, ताकि कोई जान न पाए। पर कोई—कोई ऐसे भी होते हैं कि उन्हें यदि एक भी आम मिल जाए तो वे उसे काटकर सब को थोड़ा—थोड़ा बाँटने के बाद स्वयं खाते हैं। इसी प्रकार कुछ साधक होते हैं, जो ईश्वर दर्शन का आनन्द प्राप्त करने के बाद दूसरों को भी वह आनन्द चखाने का प्रयत्न करते हैं।

ईश्वरोपलब्धि के बाद की अवस्था

ईश्वरदर्शन कर लेने के बाद मनुष्य पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है।

किसी—किसी का चैतन्य जाग जाता है। परन्तु इसके कुछ लक्षण हैं। ऐसे व्यक्ति को ईश्वरीय प्रसंग छोड़ दूसरा कुछ भी सुनना या बोलना अच्छा नहीं लगता। जैसे चातक पक्षी। सात समुद्र, गंगा, यमुना आदि नदियाँ ये सभी जल से पूर्ण हैं, परन्तु चातक वृष्टि का ही जल चाहता है। मारे प्यास के छाती फटी जा रही है, फिर भी वह दूसरा जल नहीं पीता।

हृदय में ईश्वर के आगमन का लक्षण क्या है ? जिस प्रकार उषा की लाली सूर्य के उदित होने की सूचना देती है उसी प्रकार निःस्वार्थता, पवित्रता तथा सज्जनता ईश्वर के आगमन की सूचना देती है।

जिस प्रकार राजा किसी नौकर के घर जाने से पहले अपने भण्डार से साज–सामान, अपने बैठने लायक आसन, भोजन सामग्री आदि भिजवा देता है, उसी प्रकार हरि भी साधक के हृदयभवन में आविर्भूत होने से पहले उसमें प्रेम, भक्ति, विश्वास, व्याकुलता आदि जगा देते हैं।

ईश्वरदर्शन होने का एक लक्षण है आनन्द। जैसे समुद्र में ऊपर तो तरंगों का खूब हिल्लोल–कल्लोल रहता है, परन्तु नीचे शान्त गम्भीर जल होता है।

ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति होने पर मनुष्य उस नशे में मस्त हो जाता है। शराब न पीते हुए भी वह पूरे शराबी के जैसा प्रतीत होता है। जब मैं अपनी जगज्जननी माँ के चरणों के दर्शन पाता हूँ, तब मैं इतना मस्त हो जाता हूँ कि मानों मैंने पाँच बोतल शराब पी ली हो। ऐसी अवस्था में बिना विचार किए, चाहे जिसके हाथ का भोजन नहीं लिया जा सकता।

मनुष्य के सिद्ध होने पर उसकी अवस्था किस प्रकार की होती है? जैसे आलू, बैंगन आदि सिद्ध होकर नरम हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य सिद्ध होने पर नरम हो जाता है, निरहंकार हो जाता है।

सिद्धि प्राप्ति के कुछ लक्षण

यथार्थ आत्मज्ञानी तो वही है जो जीवित रहते हुए भी मृत के समान है, अर्थात् जो मृतदेह की भाँति कामना–वासना से रहित हो गया है।

श्रीरामकृष्ण ने एक बार केशव सेन से कहा था– "यदि तुम और थोड़ा उन्नत होकर उच्च तत्त्वों का प्रचार करने लगो तो तुम्हारा दल–बल कुछ नहीं टिक पाएगा। ज्ञान की अवस्था में दल–बल स्थानवत् मिथ्या प्रतीत होते हैं।"

ज्ञानलाभ होने पर ईश्वर दूर के नहीं प्रतीत होते। तब फिर वे 'वे' नहीं रह जाते, 'ये' बन जाते हैं। हृदय में ही उनके दर्शन होते हैं। वे सब के भीतर हैं, जो उन्हें खोजता है, वही पाता है। जिस प्रकार जल में डुबोया हुआ कुम्भ भीतर–बाहर जल से पूर्ण रहता है, उसी प्रकार ईश्वर में मग्न हुआ व्यक्ति भीतर–बाहर सर्वत्र सर्वव्यापी ईश्वर को ही देखता है।

ईश्वर लाभ हो जाने के बाद सर्वत्र सभी वस्तु में वे ही विराजमान दिखाई देते हैं। परन्तु मनुष्यों में उनका अधिक प्रकाश है। फिर मनुष्यों में जो सत्त्वगुणी भक्त हैं, जिनमें कामिनीकांचन के भोग की बिलकुल इच्छा नहीं, उनके भीतर और भी अधिक प्रकाश है।

ईश्वरदर्शन के बाद भक्त को उनकी लीला देखने की अभिलाषा होती है। रावणवध के बाद जब रामचन्द्रजी लंकापुरी में प्रवेश करने लगे तो बूढ़ी निकषा (रावण की माता) दौड़ती हुई भागने लगी। तब लक्ष्मण बोले, "राम! कैसे अचरज की बात है, देखो। यह निकषा कितनी बूढ़ी है, इसने कितना अधिक पुत्र शोक भोगा है, फिर भी इसे प्राणों का इतना भय है कि भाग रही है!" रामचन्द्रजी ने निकषा को अभय प्रदान करते हुए पास बुलवाकर उसके भागने का कारण पूछा। तब निकषा बोली, "राम, मैं इतने दिन जीवित हूँ इसीलिए तुम्हारी इतनी लीलाएँ देख पा रही हूँ। मुझे और भी जीने की इच्छा है, ताकि मैं तुम्हारी और भी लीलाएँ देख सकूँ।"

क्या मुक्त पुरुष के भीतर माया रहती है ? शुद्ध सोने से गहने नहीं गढ़े जा सकते, उसमें थोड़ी–सी खोट मिलानी पड़ती है। इसी प्रकार पूर्ण रूप से माया रहित होने पर देह नहीं टिकती। देह के रहते थोड़ी माया रहती है।

जिस प्रकार बकरे का गला काटने के बाद भी वह थोड़ी देर तक छटपटाता रहता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष जिस अहंभाव को लेकर संसार में विचरण करता है वह निर्जीव होता है, वह उसे काम–कांचन में आबद्ध नहीं कर सकता।

देह का जन्म हुआ है इसलिए मृत्यु भी होगी। किन्तु आत्मा के मृत्यु नहीं है। सुपारी पक जाने पर छिलके से अलग हो जाती है, परन्तु कच्ची सुपारी को छिल्के से अलग करना बड़ी–टेढ़ी खीर है। ईश्वर के दर्शन होने पर देहात्मबुद्धि चली जाती है, तब देह और आत्मा अलग–अलग हैं यह अनुभव हो जाता है।

यहूदियों ने ईसा मसीह को क्रूस पर चढ़ा उनकी देह में कीलें ठोकीं, पर तब भी उन्होंने उनके कल्याण के लिए प्रार्थना की। यह कैसे सम्भव है ?—गीले नारियल में कील ठोंकने से वह भीतरी गरी त... जा चुभती है; परन्तु नारियल के सूख जाने पर गरी खोपड़े से अलग हो जाती है, तब बाहर कील ठोंकने पर वह गरी को नहीं लगती। ईसा मसीह सूखे खोपड़े की तरह थे, वे देह से अलग थे। इसलिए देह के कष्ट से उन्हें पीड़ा नहीं पहुँच सकी। देह में कीलें ठोकने पर भी उन्होंने आनन्दित चित्त से वैरियों के कल्याण के लिए प्रार्थना की थी।

सिद्ध पुरुष की निर्विकारता

जब नारियल के पेड़ की टहनी झड़ जाती है तो उसकी जगह सिर्फ उसका निशान रह जाता है, जिससे पता चलता है कि इस स्थान पर किसी समय एक टहनी थी। इसी प्रकार जिसे ईश्वर लाभ हो जाता है उसमें अहंकार का केवल चिह्न भर रह जाता है, काम–क्रोधादि का केवल आकार मात्र रह जाता है। उसकी अवस्था बालक की सी हो जाती है। बालक का सत्व, रज, तम में किसी भी गुण से लगाव नहीं होता। बालक के मन में किसी वस्तु के प्रति खिंचाव पैदा होने में जितना समय लगता है, उस वस्तु को छोड़ देने में भी उसे उतना ही समय लगता है। तुम चाहे तो उससे एक पाँच रुपये कीमत की धोती अधेली की गुड़िया दे फुसलाकर ले सकते हो—भले ही पहले वह बड़े जोर के साथ कहे, 'नहीं, मैं नहीं दूँगा, मेरे बाबूजी ने मोल ले दी है।' फिर, बालक के लिए सब समान है—ये बड़े हैं, वह छोटा है, यह ज्ञान उसे नहीं है। इसीलिए उसे जाति–पाँति का विचार नहीं है। माँ ने कह दिया, 'वह तेरा दादा है', फिर चाहे वह लुहार ही हो, वह उसके साथ बैठकर एक ही थाली में से रोटी खाएगा। बालक को घृणा नहीं, शुचि–अशुचि का ज्ञान नहीं। शौच के बाद हाथ नहीं मटियाता !

मुक्त पुरुष संसार में किस तरह रहते हैं, जानते हो ?—पनडुब्बी चिड़िया की तरह; जो पानी में रहती तो है पर उसके बदन पर पानी नहीं लगता; अगर कभी थोड़ा सा लग भी जाए तो एक बार बदन को झाड़ लेने से तुरन्त सब पानी झर जाता है।

साँप को पकड़ने जाओ तो तुरन्त काट खाता है, पर कोई अगर उसका मन्त्र जान ले तो कई साँपों को अपने गले में लपेट कर खेल दिखला सकता है। उसी प्रकार, ज्ञानलाभ कर लेने के पश्चात् मनुष्य पर कामिनी-कांचन का परिणाम नहीं होता।

मेढ़क के बच्चे की दुम झड़ जाती है तब वह पानी में भी रह सकता है और जमीन पर भी। अविद्यारूपी दुम के झड़ जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है। तब वह सच्चिदानन्द भगवान् में भी मग्न रह सकता है और संसार में भी विचरण कर सकता है।

हवा चन्दन की सुगन्ध और विष्ठा की दुर्गन्ध दोनों को लेकर बहती है, परन्तु उनमें से किसी के भी साथ मिल नहीं जाती। इसी प्रकार, मुक्त पुरुष भी संसार में रहते तो हैं, परन्तु वे संसार के साथ मिलकर एक नहीं हो जाते।

लोहा यदि एक बार पारस पत्थर को छूकर सोना बन जाए, तो फिर उसे चाहे मिट्टी के भीतर गाड़ रखो, चाहे कूड़े में फेंक दो, वह सोना ही बना रहेगा। फिर लोहा नहीं बनेगा। जिन्होंने भगवान् का लाभ कर लिया है उनकी अवस्था भी इसी प्रकार होती है। वे चाहे संसार में रहें चाहे वन में, उन्हें किसी प्रकार का दोष छू नहीं सकता।

दूध को पानी में छोड़ दो तो वह पानी के साथ मिल कर एक हो जाता है, परन्तु यदि उसका मक्खन बना लिया जाए तो फिर वह पानी में नहीं मिलता, तब वह पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह, ईश्वर लाभ कर लेने के पश्चात् मनुष्य हजारों संसारासक्त बद्ध जीवों के बीच रहकर भी स्वयं बद्ध नहीं होता।

जिसने जीव, जगत् तथा ब्रह्म इन तीनों के एकत्व की उपलब्धि कर ली है, उसे अच्छे और बुरे का बन्धन बाँध नहीं सकता।

सिद्ध पुरुष अच्छे और बुरे के पार होते हैं

पहाड़ पर चढ़ने के पहले पठार पर छोटी-छोटी घास और बड़े-बड़े पेड़ देखकर मनुष्य सोचता है, 'यह घास कितनी छोटी है और ये पेड़ कितने बड़े हैं।' परन्तु जब वह पहाड़ पर चढ़कर देखता है तो उसे घास और बड़े पेड़ सब एक से दिखाई देते हैं। इसी प्रकार, सांसारिक दृष्टि से देखने पर छोटे-बड़े का कितना भेद दिखाई पड़ता है! कहीं राजा और कहीं भिखारी! कहीं माता-पिता और कहीं सन्तान! परन्तु ईश्वर की ओर दृष्टि पड़ते ही सब समान हो जाते हैं। तब उन्हीं की सेवा परम कर्तव्य बन बैठती है।

रानी रासमणि के काली मन्दिर में एक बार एक पागल-सा साधु आया था। एक दिन उसे कुछ खाने नहीं मिला, पर उसने किसी से कुछ नहीं माँगा। एक जगह एक कुत्ते को जूठी पत्तलों में से जूठन खाते देख वह उसका कान पकड़कर बोला, 'तुम खाते हो, हमको नहीं देते?' और उसी के साथ खाने लग गया। फिर काली-माता के मन्दिर में जाकर उसने ऐसी अपूर्व स्तवस्तुति की कि मन्दिर मानो कम्पित हो उठा। बाद में जब वह जाने लगा तब श्रीरामकृष्ण ने अपने भानजे हृदय को उसके साथ जाकर देखने कहा। हृदय के उसके

पीछे–पीछे थोड़ी दूर जाते ही उस साधु ने पलटकर कहा, 'तू क्यों आ रहा है ?' हृदय ने कहा, 'मैं कुछ उपदेश चाहता हूँ।' तब साधु ने कहा, 'जिस समय तुझे यह नाले का पानी और वह गंगा का पानी दोनों एक प्रतीत होंगे; जिस समय यह शहनाई की आवाज और कोलाहल की आवाज एक ही मालूम होगी, उस समय तुझे ठीक–ठीक ज्ञानलाभ होगा।' श्रीरामकृष्ण कहा करते, "उस व्यक्ति की ज्ञानोन्माद–अवस्था थी। सिद्ध पुरुष संसार में बालकवत्, पिशाचवत् या उन्मत्तवत् विचरण किया करते हैं।"

परमहंस की अवस्था बालक जैसी होती है। पाँच वर्ष के बालक की तरह उसे स्त्री और पुरुष में भेद नहीं मालूम होता। परन्तु फिर भी संसार के सामने आदर्श रखने के लिए उसे कामिनी से सावधानी बरतनी चाहिए।

एक बार जनक राजा की सभा में एक संन्यासिनी आई। उसे देख जनक ने सर नीचा कर लिया, आँखें झुका लीं। यह देख संन्यासिनी बोली, 'हे जनक ! तुम्हें अब भी स्त्रियों को देख इतना भय लगता है !' पूर्णज्ञान हो जाने पर पाँच साल के बच्चे का सा स्वभाव हो जाता है–तब 'स्त्री है और यह पुरुष' इस प्रकार भेदबुद्धि नहीं रहती।

यद्यपि संसार में रहने वाले ज्ञानी में कुछ दाग लग सकता है, परन्तु उस दाग के कारण कोई हानि नहीं होती। चन्द्रमा में कालिमा है तो सही, पर उससे उसके प्रकाश में कोई बाधा नहीं आती।

लोहे की तलवार को पारस पत्थर का स्पर्श करवाने से वह सोने की बन जाती है। उसका आकार पहले जैसा ही रह जाता है, परन्तु उससे फिर हिंसा के कार्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार, ईश्वर के पादपद्मों का स्पर्श कर लेने पर यद्यपि मनुष्य के आकार में कोई बदल नहीं होता, तथापि उसके द्वारा फिर किसी प्रकार का दोषयुक्त काम नहीं हो सकता।

अद्वैतज्ञान को आँचल में बाँधकर जो चाहो करो, तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा।

एक बार भीड़ में से चलते हुए एक साधु का पैर एक दुष्ट आदमी को लग गया। इस पर उस आदमी ने मारे क्रोध के आगबबूला हो उस साधु को इतनी बुरी तरह पीटा कि साधु बेहोश होकर गिर पड़ा। शिष्यों के काफी देर तक सेवा–शुश्रूषा करने के बाद जब उसमें कुछ होश आया तब एक शिष्य ने पूछा, 'महाराज, बताइए तो भला कौन आपकी सेवा कर रहा है ?' साधु ने कहा, 'जिसने मुझे मारा था।' यथार्थ साधु को शत्रु और मित्र में भेद नहीं दिखाई देता।

सिद्ध पुरुष तथा कर्म

जिसे भगवान के दर्शन हुए हैं वह कभी पागल की तरह तो कभी पिशाच की तरह घूमता है–उसे शुचि–अशुचि का भेदभाव नहीं रहता। कभी तो वह जड़ की तरह हो जाता है–अन्दर–बाहर ईश्वर के दर्शन कर निर्वाक्, निःस्तब्ध बन जाता है। कभी वह बालक जैसा रहता है किसी चीज पर लगाव नहीं, बालक की तरह धोती को बगल में दबाए घूमता है। इस अवस्था में वह कभी बालभाव में रहता है, कभी किशोरभाव में हँसी–दिल्लगी करता है, तो कभी युवकभाव में रहता

है। किन्तु जब वह लोकहित के लिए कर्म करता है, लोकशिक्षा देता है, उस समय उसमें सिंह के समान बल आ जाता है।

समाधि होने पर सब कर्मों का त्याग हो जाता है। पूजा–जप आदि कर्म, वैधविक कर्म–सब का त्याग हो जाता है। शुरू–शुरू में कर्म की बडी चहल–पहल रहती है। पर मनुष्य ईश्वर की ओर जितना अधिक अग्रसर होता है उतना ही कर्म का आडम्बर कम होता जाता है। यहाँ तक कि धीरे–धीरे उनका नाम–गुणगान तक बन्द हो जाता है। (साधारण। ब्राह्मसमाज के सदस्य शिवनाथ शास्त्री के प्रति–) जब तक तुम सभा में नहीं आते तब तक तुम्हारे नाम, गुण आदि की काफी चर्चा होती रहती है; ज्योंही तुम आ पहुँचते हो त्योंही वे सब बातें बन्द हो जाती है। तब तुम्हारे दर्शन में ही आनन्द मिलता है। तब लोग कहने लगते हैं, 'ये शिवनाथ बाबू आ रहे हैं।' तुम्हारे बारे में अन्य सब बातें बन्द हो जाती हैं।

बहू गृहस्थी के तरह–तरह के कामों में सदा उलझी रहती है। पर जब उसके गर्भ में सन्तान आ जाती है तो उसके सारे काम छूट जाते हैं। बच्चा पैदा हो जाने के बाद तो उसे दूसरे काम–काज अच्छे ही नहीं लगते, तब वह दिन भर अपने बच्चे की ही देखभाल करती रहती है, उसे चूमती–पुचकारती हुई आनन्द में डूबी रहती है। मनुष्य अज्ञान–अवस्था में नाना प्रकार के कर्म करता है, किन्तु ईश्वर के दर्शन पा जाने पर फिर उसे वे कर्म अच्छे नहीं लगते, तब उसे ईश्वर की सेवा छोड़ दूसरे काम करने में रुचि नहीं आती, वह ईश्वर को क्षण भर के लिए भी छोड़ना नहीं चाहता।

यदि तुम्हें ईश्वर का लाभ हो जाए तो फिर संसार असार नहीं प्रतीत होगा। जिसने उन्हें प्राप्त कर लिया है वह देखता है कि वे ही यह जीव–जगत् बने है। वह जब बच्चों को खिलाता है तो समझता है कि वह गोपाल को खिला रहा है, पिता–माता को ईश्वर–ईश्वरी की दृष्टि से देखता और उनकी सेवा करता है।

***

जीवन्तं मृतवन्मन्यै देहिनं धर्मवर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः।।

—चाणक्य

धर्माचरण से रहित मनुष्यों को मैं जीवित रहते हुए भी मरे हुए के समान मानता हूँ। धर्माचरण करने वाला मरकर भी जीवित रहता है, इसमें कोई शक नहीं क्योंकि उसका नाम और यश अमर रहता है।

जी भर कर हँसिये

लेखक—वेदव्रत दीक्षित

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो हँसना जानता है। हँसना ईश्वरीय वरदान है, इसलिये इसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये।

शिशु जन्म के कुछ दिनों बाद से मुस्कराने लगता है। हँसी बीस सप्ताह तक के बच्चे में नहीं देखी जाती। आरम्भ में मुस्कराने और हँसने की क्रिया में श्वसन–संस्थान और चेष्टा–तन्तुओं की विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ कारण होती हैं। बाद के अभ्यास से इनका समाजीकरण हो जाता है।

ठीक समय पर हँसना इस बात का परिचायक है कि आपको सामाजिकता का ज्ञान है। लोग हँसकर, मुस्कराकर मित्र बनाते हैं और दुश्मन भी पैदा करते हैं।

आप हँसी के द्वारा अपने मनोभाव की सूचना दूसरों को देते हैं। हँसना कभी आपकी शुभेच्छा का, कभी मजाक का, कभी मूल आनन्द का और कभी खीझने का भी परिचायक हो जाता है। कभी–कभी लोग अपने मनोभाव को छिपाने के लिये भी हँसते हैं। हँसना सांकेतिक भाषा का एक अंग है।

हँसना स्वास्थ्य के लिये अच्छा है। दीर्घायु प्राप्त करने वालों में निश्चल भाव से हँसने का गुण प्रायः देखा गया है। यह कुछ आन्तरिक शारीरिक अवयवों के लिये अच्छा व्यायाम है।

आप हँसते हैं जब कि कहीं कोई ऐसी कमी या गड़बड़ी देखते हैं जिससे अपनी वास्तविक हानि या क्षति का अनुभव नहीं करते। दया कर लोगों की ऐसी कमियों पर कम से कम उनके सामने मत हँसिये जिन पर उनका वश नहीं है—जैसे अंगहीनता, कुरूपता और हकलाहट।

कहते हैं कि एक बार काले–कुरूप, शीतला के दागों से भरे मुख और एक आँख वाले कवि 'जायसी' को देखकर बादशाह शेरशाह अपने भरे दरबार में हँस पड़ा था।

कवि ने पूछा—

'मोंहिका हँसेसि कि कोहरेहिं।'

मुझको हँसते हो या कुम्हार (ईश्वर) को ? शेरशाह के पास कोई जवाब नहीं था।

कहीं आप इतने जोरों से तो नहीं हँसते कि लगता हो अभी छत टूटकर गिर पड़ेगी ? यह भी हो सकता है कि आप हँस रहे हों और दूसरों को रोने का भ्रम होता हो। यह सच है कि कुछ लोगों को हँसना नहीं आता।

हँसने के समय, कोई भी हो, मुख प्राकृतिक रूप से अधिक सुन्दर लगता है। यदि हँसने के बीच मुख पर तनाव दिखलायी पड़े, मुखाकृति पहले से भद्दी हो जाय तो संकोच, व्यंग, भय, दमन या मनो ग्रन्थियों की आशंका करनी चाहिये। अकारण रुक–रुक कर हँसने वाले आत्मदमन के पीड़ित होते हैं। कुछ लोगों में इस प्रकार बेहद हँसना मानसिक बीमारी का चिह्न होता है।

विकृत हास्य प्रायः ऊपर लिखी गयी बातों का सूचक होता है।

***

'समर्पण गीत'

राजेश कुमार सिंह बलिया

ऐ योगी सिद्ध गुफा के, तेरी महिमा अपरम्पार,
तू जग का पालनहार, गुरुजी आ जाओ इकबार।

१. सब नाते, रिस्ते तुझसे है, बस तुम हो जग में दाता,
तुमको छोड़ कहाँ जाऊँ मैं, तुम हो भाग्य विधाता,
चरण कमल में मस्तक टिके, दर्शन दो सरकार
तू जग का पालनहार।

२. कृपा करके ऐ त्रिपुरारी, सुधा प्यार का बाँटो,
योग की वर्षा करने वाले, बन्धन भव का काटो,
अमृत की गंगा छूने को हैं, भगीरथ तैयार,
तू जग का पालनहार।

३ सिद्धगुफा के मन्दिर की वो, अखण्ड ज्योति जलाओ,
मन कमल मेरा ये खाली है, आ आसन आप लगाओ,
पलक ओट से मोती बोले, जाऊँ चरणों पे बलिहार,
तू जग का पालनहार।

४. कबसे द्वार खड़ा राजेश, योग की भिक्षा लेने को,
भर दो झोली अवढर दानी, सत्संग की शिक्षा लेने को,
शरण में अपनी ले लो मुझको, मेरी अर्ज करो स्वीकार,
तू जग का पालनहार।
गुरुजी आ जाओ इकबार।

कथनी, करनी और रहनी

प्रो० आचार्य चन्द्रहास शर्मा, (दिल्ली)

संसार में चारों ओर चकाचौंध और धमाचौकड़ी मची हुई है। लोगों की लच्छेदार और मीठी-मीठी बातों को सुन और उनका भकाभक वेष देखकर मन चकरा जाता है। इसके साथ ही यदि उनके पास लम्बा-चौड़ा लश्कर और वैभव है तो उसे देखकर आम आदमी की बुद्धि ऐसा ही मान बैठती है कि यह कोई पहुँची हुई हस्ती है। अगर उसके पास कुछ ऐसे चाटुकार हैं जो उसकी जय-जयकार करते हुए आगे-आगे चलते हैं तब तो अच्छे-अच्छों की बुद्धि हिप्नोटाइज़ (सम्मोहित) हुए बिना नहीं रहती। लोग भेड़चाल की तरह ऐसी हस्ती के अनुयायी या शिष्य बनने में अपना अहोभाग्य समझते हैं। क्या कभी कोई यह भी देखने का धैर्य रखता है कि जिसका झण्डा उठा के चल रहे हैं उसमें कितना तप, त्याग, वैराग्य भाव, निष्कामता, अपने इष्ट में श्रद्धा तथा समर्पण है और गुरुभक्ति और गुरुसेवा कितनी है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि उसकी जीभ एक बालिश्त की है पर हृदय और मन एक अंगुल भर भी मुश्किल से है। बाहर कुछ और अन्दर कुछ है। निगाहें कहीं हैं, निशाना कहीं है। नाम लेता है भगवान का, पर बगल में छुरी रखता है। कहता कुछ है, स्वयं करता कुछ है। अजी इतना भी नहीं। कहता बड़ी-बड़ी बातें हैं और करता कुछ भी नहीं है। लोगों से अपनी पूजा इस प्रकार कराता था जैसे उसे ब्रह्म साक्षात्कार हो चुका है। अब कुछ करना शेष नहीं है। स्वयं भोग के पदार्थों को इकट्ठा करने में जुटा रहता है और दूसरों को त्याग और अपरिग्रह का उपदेश देता है। ऐसे का चेला या चेली बनने से मनुष्य जहाँ है वहाँ से नीचे गिर जाता है। उसके उद्धार का रास्ता बन्द हो गया समझो। क्योंकि जिसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली है। तो फिर गड्ढे में गिरने से उसे कौन बचा सकता है ? यही तो सब माया है। ऊपर से कुछ अन्दर से कुछ और दिखाई दे। 'माया' शब्द का अर्थ विद्वानों ने किया है—मा=माति अर्थात् समस्त जगत को अपने में (त्रिगुणों के दायरे में) मिलाकर रखती है। या=याति का अर्थ है जिससे सृष्टि के समय पुनः जगत् व्यक्त होता है।

संसार माया का ही तो रूप है। जो सदा एकरस रहे वह परमात्मा है। जो विकारी और गिरगिट की तरह रंग बदलता रहे वही संसारी जीव है। जिसे परमात्मतत्व उपलब्ध हो जाता है उसमें कथनी, करनी और रहनी में एकरूपता देखने में आती है। वेष रख लिया साधु का और कर्म करता है असाधु के। नाम रख लिया योगिराज या शक्तिमाता किन्तु मन में हरक्षण ईर्ष्या-द्वेष का द्वन्द्व चल रहा है। संसार में नम्बर दो का माल ज्यादा मात्रा में है। असली माल को लेने वाले भी कम और पहचानने वाले भी विरले होते हैं। ऐसी वस्तु मिलती भी ऊँचे भाव से है। उसको देने के लिए कितने तैयार हो सकते हैं ? फिर जय जयकार करने से जो चीज हाथ लगेगी वह मिलावटी तो होगी ही, वरना इतनी सस्ती कैसे हो सकती है ? सद्वस्तु प्राप्त करने के लिए तो चाहिये विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, समर्पण और निरन्तर अभ्यास परायण बने रहने

का स्वभाव ! नकली पने से ये कैसे सम्भव है ? यदि जीव अपने स्वरूप में स्थित होकर परमानन्द और परम प्रेम में डूबकर अमृतत्व चाहता है तो उसे इन तीन बातों का त्याग करना ही पड़ेगा। यह कभी सम्भव ही नहीं कि गाल भी फुलाये रखे और हँसी भी हँस ले। दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। आजकल जहाँ देखो वहीं 'भगतजी' 'सन्त जी' 'गुरुजी' 'योगिराज जी' 'योगिनी माताजी' 'ब्रह्मचारी जी,' 'महात्माजी' 'बाबाजी' और न जाने क्या–क्या उपाधियों की व्याधियों से ग्रस्त लोगों का जमघट देखने में आता है। कोई मूर्ति कितनी ही बढ़िया पालिश की हुई और सुन्दर क्यों न हो उसमें कीमत तो सोने की मात्रा की होगी। कितने कैरट सोना है उसके हिसाब से उसका मूल्य हुआ करता है। यदि सोने में मिलावट और खोट हो तो परीक्षा की कसौटी पर वह खरा साबित कैसे हो सकेगा ? गोस्वामी जी ने खरे सोने की परख करने का सूत्र दिया–

'जाके कपट दम्भ नहि माया। सो तुम समान रघुराया।।

कपट दम्भ और माया हमारी कथनी करनी और करनी से सम्बन्धित है। कपट का कार्य है जैसा नहीं है वैसा बातों और वेष–भूषा से अपने को प्रकट करना। जगज्जननी सीता जी ने कपट मृग को देखा। गोस्वामी जी लिखते हैं **सीता कपट मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर भेषा।** क्या अंग–प्रत्यंग की शोभा है ? अद्भुत ! अतिमनोहर ! देखते ही मन मुग्ध हो जाय। कपटी की बातें और भव्य वेषभूषा मन को तो क्या बुद्धि को भी हर लेती है। 'दम्भ' कपट का भी बाप है। दम्भ का साथी 'पाखण्ड' होता है। कुछ ज्ञान न होने पर सर्वज्ञ होने का दावा करना दम्भ कहलाता है ? फिर अपने अज्ञान को छिपाने के लिए नाना प्रकार के दिखावे और नियमों की आड़ लेकर प्रपंच का विस्तार करता रहता है। शक्ति न होने पर भी कहता है कि मैं ऐसा शक्तिपात कर सकता हूँ कि चटपट आकाश में उड़ने लगे। दम्भ में प्रदर्शन और दिखावा अधिक होता है। कोई सुनना चाहे या न चाहे पर वह कहे बिना रह नहीं पाता कि मैंने उसका ऐसा कर दिया, इसका ऐसा कर दिया। दम्भ में 'अहंकार' की दुर्गन्ध आती रहती है। कपट और दम्भ की 'माताजी' माया है। जो असलियत को छिपाकर नकली रूप प्रकट करने में माहिर है। इस माया से विमोहित होकर ज्ञानियों और ध्यानियों की मति भी पलटने में देर नहीं लगती। **'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी मोहयतीव सा'**। माया इस जीव को नचाकर रख देती है। यह कंचन, कामिनी और कीर्ति में फंसाकर जीव के ज्ञान और ध्यान को लूट लेती है। जो अपने को पूरी तरह सर्वतोभावेन उस परम सत्ता, परमात्मा, परमगुरु सद्गुरु को समर्पित कर उनकी शरणागति में पहुँच जाते हैं केवल उन्हीं को माया बख्शती है। ज्ञानी उसको मिथ्या मानकर उसके चक्कर से बचकर रहना चाहता है पर माया उस ज्ञानी के पास मान–सम्मान के रूप में आकर अपना आसन जमा लेती है फिर उसका काम आसान हो जाता है। ध्यानी के पास वह सिद्धियों के रूप में आकर उसके परम आत्म धन को लूटकर उसे संसारी जन्ममरण जरामृत्यु का पुतला बनाकर रख देती है। इसीलिए योगदर्शन में इनसे बचने के लिए यम के रूप में 'अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह तथा नियम के रूप में शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान'

की साधना का सर्वप्रथम अभ्यास करने का उपदेश दिया है। इनके द्वारा कथनी, करनी और रहनी एकरूप हो जाती है। एकरूप होने से उस अद्वैत परमतत्व से समत्व होना आसान हो जाता है। यदि कथनी मिश्री सी मीठी और करनी नमकीन और चटपटी तथा रहनी नीम और गिलोय के समान कड़वी है तो आसुरी भाव ही बढ़ता है। दैवी सम्पत्ति से ऐसा प्राणी दूर होता जाता है। महात्मा और दुरात्मा का अन्दर बताते हुए नीतिकारों ने बताया है कि–

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

अर्थात् महात्मा वह है जिसके मन, वाणी, कर्म में एक सी बात है। और दुरात्मा वह है जिसके मन में कुछ, वाणी में कुछ और करनी में कुछ और दिखायी पड़ता है।

आत्मदर्शन का मार्ग ही अध्यात्म मार्ग है। उसमें आने की बहुत लोगों में आतुरता होती है। पर कितने लोग इसमें पहुँचकर अपने इरादों में कामयाब हो पाते हैं ? ज्यादातर की यही स्थिति होती है 'आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास'। जल्दबाजी में भोले–भाले लोग ऐसे–वैसे को अपना गुरू बना कर निश्चिंत हो जाते हैं। मान लेते हैं, अब हमारा बेड़ा पार हो जायेगा। जैसे नपुंसक पति को वरण करके कोई सुमुखी यह चाहे कि वह पुत्रवती हो जायगी तो क्या ऐसा कभी सम्भव हो सकेगा ? उसी प्रकार यदि कोई ऐसे–वैसे को गुरू बनाकर अपना जीवन सुधारना चाहे तो क्या यह सम्भव हो सकेगा ? जिसके पास जो है और जैसा वह है वैसी ही तो शिक्षा और ज्ञान दूसरे को भी दे पायेगा। भगवान सदाशिव महाशक्ति पार्वती को समझाते हैं कि हे भगवती ऐसा–वैसा गुरू करने की अपेक्षा बिना गुरु के रह जाना कहीं ज्यादा अच्छा है। जो वास्तव में दूसरे जीव का कल्याण करने की सामर्थ्य रखता है उसका वरण करने से असली फल प्राप्त हो सकेगा। ऐसे सिद्धयोग के गुरू की पहचान कैसे हो ? यह समस्या उठ खड़ी होती है। उसका समाधान भगवान सदाशिव इस प्रकार करते हैं–

दृश्यं बिना स्थिरा दृष्टिः मनश्चालम्बनं बिना।
विनायासं स्थिरो वायुर्यस्य स्यात् स गुरुः प्रिये !

अर्थात् जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर रहती है। (शाम्भवी मुद्रा के द्वारा) जिसका मन किसी आलम्बन के बिना स्थिर है। (खेचरी द्वारा तथा मनोन्मनी समाधि द्वारा) जिसकी प्राणवायु बिना प्रयास के स्वतः स्थिर है (केवली कुम्भक सिद्ध होने से) उसी की कथनी, करनी और रहनी में एक रूपता पायी जाती है। उसे ही योगी गुरू कहा जाना चाहिये, हर एक को नहीं। आगे भगवान सदाशिव कहते हैं–

'ये दत्वा सहजानन्दं हरन्तीन्द्रिय जयं सुखम्।
सेव्यास्ते गुरवः शिष्यैरन्ये त्याज्याः प्रतारकाः।।

अर्थात् जो आत्मरस का सहज आनन्द देकर इन्द्रियों से प्राप्त विषय भोगों के रस को छीन लेते हैं, विषय भोगों से मन को विरत कर देते हैं, ऐसे गुरुओं की सेवा से ही आत्म कल्याण सम्भव है। केवल नाम से काम नहीं होगा। **कहत धतूरे सो कनक सोना गढ़ो न जाय।**

***

असम्प्रज्ञात समाधि

पातंजल योगशास्त्र में असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की बतलायी गयी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्त वृत्तिका सम्यक निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है,—यहाँ तक कि दोनों में स्व- स्वामि—सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियों का आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्ति हीन अवस्था में पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षी के रूप में अवस्थित होता है। अथवा गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञान शून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्तस्वरूप की उपलब्धि से भी वंचित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड़ समाधि की अवस्था है। यह योगियों के लिये कदापि काम्य नहीं। वृत्तिहीन होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने के कारण यह योगावस्था नहीं है। पतंजलि इसी को भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीन की तरह विदेह देवता भी इसी अवस्था में रहते हैं। योगियों की वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि के रूप में ही साधक समाज में परिचित है। 'उपाय' का अर्थ यहाँ पर प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर जिस असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञान के अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधि के साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय—अवस्था में कुछ समय तक चित्त निरुद्ध रहने पर भी कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार सम्पूर्ण रूप में वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा उत्पन्न होने पर क्रमशः संस्कारों का दाह करने से जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थान की कोई आशंका नहीं रहती। वास्तव में उसी को एक प्रकार से कैवल्य का पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध नाम से जो दो प्रकार के निरोध का वर्णन करते हैं, वे अधिकांश में उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि के ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश किये बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियों के लिये प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशों का दाह न कर केवलमात्र वृत्तियों का निरोध कर लेने से ही पुरुष आत्मस्वरूप में अवस्थित होने में समर्थ नहीं होता। ज्ञान के अतिरिक्त अविद्या का बीज नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोग के द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का अनुष्ठान यथाविधि करने पर भी अविद्या—संस्कार को दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है; क्योंकि क्रियायोग के प्रभाव से संस्कारों का स्थूल रूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होते ही यह दग्ध हो जाता है, और पुनः जागृत होने की शक्ति से रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रत्येक भूमि में ही उसके आश्रय से ज्ञान का विकास होता है। फिर सात्त्विक भूमि में सालम्ब ज्ञान की चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम गृहीत समापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्ति का यही स्वाभाविक क्रम है। **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** गीता के इस वचन में भी ज्ञान प्राप्ति के मूल में श्रद्धा को ही स्थापित किया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध होने पर भी अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहने पर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योगशास्त्र का सिद्धान्त है।

भाव-प्रसून

श्रीमती सरिता भारद्वाज
(दिल्ली)

अतुलनीय अनुपम मेरे गुरुवर,
उन जैसा कोई और नहीं।
कैसे गाऊँ महिमा उनकी,
वाणी में भी शक्ति नहीं।
देवों ने चुन-चुन कर तारे,
धरा, धाम, गिरि कानन में।
पतित-उधारक मेरे गुरु ने,
लाखों तारे एक पल में।
देवों के अधिकार अलग हैं,
वही तो वे दे सकते हैं।
मेरे गुरुवर से जो चाहो,
उसी समय दे सकते हैं।
चाहे सुत धन धरा धाम हो,
सब कुछ देते वे पल में।
भक्त गुरु-सेवक यदि आवें,
पूर्ण कृपा करते क्षण में।
योगी देव ऋषि यदि आवें,
पूर्ण प्रफुल्लित हो मन में।
योग सुधा बरसाकर उन पर,
जीवन सफल करें पल में।
ऐसे हैं गुरुदेव हमारे,
क्या कोई ऐसा है जग में।
पूर्ण सिद्धयोगी गुरुवर के,
शीश झुके पद-पंकज में।।

ध्यान योग

प्रस्तोता—अशोक दिग्विजय

'भगवत्प्राप्ति के साधन' और 'भगवत्प्राप्ति' दोनों का ही नाम योग है। पहले में प्रभु से मिलने के उपाय होते हैं और दूसरे में प्राप्ति—मिलन हो जाता है। उपाय वे ही लोग करते हैं जो भगवान् को मानते हैं और जीव—जीवन की चरम सिद्धि के लिये उनको प्राप्त करना परम आवश्यक समझते हैं। भगवान को न मानने वाले लोग तो ऐसे योग को अनावश्यक और मानने वालों को मूर्ख ही बतलाते हैं। अतएव भगवत्प्राप्ति के जितने साधन हैं वे सब भगवान् के मानने वालों के लिये ही हैं। परन्तु मानने वालों में भी लाभ वे ही उठा सकते हैं जो श्रद्धालु, सतत प्रयत्नशील और संयतेन्द्रिय होते हैं—जो सच्ची लगने से बिना उकतायें सदा सावधान और आलस्य रहित रहकर नियम पूर्वक साधन करते हैं। आज किसी की बात सुनकर उत्साह हुआ, कुछ करने लगे, दो चार दिन के बाद जी ऊब गया, नियमों को ढीला कर दिया और कुछ दिनों बाद साधन छोड़ बैठे, ऐसे लोगों को लाभ नहीं होता, और इस प्रकार बिना कुछ किये ही सब कुछ चाहने वाले ऐसे लोग ही निष्फल होकर विद्रोही भी बन जाते हैं। अतएव साधकों को चाहिये कि वे जिस ध्येय को प्राप्त करना चाहते हैं, उसी में सच्ची लगन से लग जायें। दूसरी ओर ताकने—झाँकने की आवश्यकता ही न समझें। तभी उनको पद—पद पर सफलता प्राप्त होगी और ज्यों—ज्यों सफलता होगी त्यों—ही—त्यों उनका उत्साह भी अधिक— से—अधिक बढ़ता जायगा। शीघ्रता करनी चाहिये क्योंकि जीवन बहुत ही थोड़ा है।

सबसे पहली बात है मन लगने की। जो जिस वस्तु को परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्त से उस वस्तु का चिन्तन स्वाभाविक ही बार—बार होता है। उसके चित्त में अपने ध्येय पदार्थ की धारणा दृढ़ होती जाती है और आगे चलकर यही धारणा—चित्त वृत्तियों के सर्वथा ध्येयाकार बन जाने पर 'ध्यान' के रूप में परिणत हो जाती है। जितने काल तक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उतने काल की स्थिति को ध्यान कहा जाता है। ध्यान की बड़ी महिमा है, भगवान ने श्रीमद्भागवत में कहा है कि जो पुरुष निरन्तर विषयों का ध्यान करता है उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है वह मुझमें लीन हो जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग, किसी—न—किसी रूप में सभी योगों में ध्यान की आवश्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यान से ही भगवान के स्वरूप में समाधि और ध्यान से ही भगवान की प्राप्ति होती है।

योगदर्शन ध्यान अष्टांग योगों में सातवाँ है। पहले छहों साधन ध्यान में सहायक है, बल्कि उनके करते—करते ही ध्यान की योग्यता साधक को प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतएव सहायक साधनों का अवश्य ही सम्पादन करना चाहिये। यहाँ संक्षेप में ध्यान के सहायक कुछ भावों और कार्यों को लिखा जाता है।

गुरु और शास्त्र वचनों में प्रत्यक्षवत् विश्वास,

साधन में तत्परता, इन्द्रियों तथा मन को उनके इच्छित सांसारिक विषयों से हटाना, तन–मन से अहिंसा, सत्य, चोरी का अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्स्तुति–प्रार्थना, एकान्तवास, विषयों से विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओं का सर्वथा त्याग, अन्न–वस्त्र–स्थान आदि आवश्यक वस्तुओं का भी यथा साध्य कम–से–कम संग्रह, अपने ध्येय सम्बन्धी ग्रन्थों के सिवा अन्य ग्रन्थों का न सुनना, न पढ़ना; ध्येय के गुण, प्रभाव और रहस्य की बातें सुनाना, न पढ़ना; ध्येय के गुण, प्रभाव और रहस्य की बातें सुनना, ध्येय के विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना; घर–परिवार में ममता का त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, सभा समितियों से अलग रहना, प्रसिद्धि से बचने की प्राणपण से निर्दोष चेष्टा करना, परचर्चा न करना, परदोष न देखना, न चिन्तन करना, न कहना, मधुर–प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना, यथासाध्य मौन रहना, चित्त को विषाद, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिन्तन आदि दुष्ट भावों से बचाना, मान–सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्री के संग से और इनके संगियों से भी यथासाध्य अलग रहना (इसी प्रकार स्त्री साधकों को पुरुष–संसर्ग से अलग रहना चाहिये); ध्येय में प्रीति उत्पन्न करने वाले सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करना, अपने इष्ट के नाम और मन्त्र का निरन्तर विधि पूर्वक सप्रेम जप करना, बार–बार इष्ट के गुण, प्रभाव और रहस्य का चिन्तन करना, उनकी दयालुता पर विश्वास रखना, ध्येय की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय रखना; साधन के स्थान, वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति आदि सामग्रियों को बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना, और न दूसरे को अपने घर के लोगों तक को किसी भी हालत में—नहाने पर–भी स्पर्श करने देना, परन्तु अपने को किसी से ऊँचा न समझना, अभिमान या क्रोध का कभी अंकुर भी न आने देना, किसी के स्पर्श से ये सामग्रियाँ अपवित्र होंगी, ऐसा न मानकर साधन के वातावरण में विकृति होगी ऐसा मानना और दूसरों को नम्रता, प्रेम, आदर और विनय के साथ अपनी कमजोरी तथा साधन के नियम समझा कर साधन सम्बन्धी स्थान और सामग्री आदि से उनको पृथक् रखना; न अधिक जागना, न ज्यादा सोना, न अधिक खाना, न निराहार रहना, नशीली चीजें बिल्कुल न खाना, मांसमद्य का सर्वथा त्याग करना, तम्बाकू–गाँजा आदि न पीना, उत्तेजक तथा गरम चीजें न खाना, खट्टी चीजें और अधिक मीठा न खाना, उड़द, लाल मिर्च, सरसों, राई, लहसुन, प्याज, गरम मसाले और दही न खाना, कटहल गाजर आदि फल न खाना, बेल, संतरा, हर्रे आदि का नियमित सेवन करना, हर किसी के हाथ का, और हर किसी का अन्न भी न खाना चाहिये। उपर्युक्त बातों के सिवा नियत स्थान पर, नियत समय, नियत काल तक, नियत आसन पर, नियत आसन से बैठकर, नियत संख्या में, नियत इष्ट मन्त्र का जप करते हुए, नियत इष्ट स्वरूप के ध्यान का प्रयत्न करना साधक के लिये परम आवश्यक है।

अवस्थाविशेष में इन सब बातों में कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक करने में भी आपत्ति नहीं है। परन्तु इनकी ओर ख्याल जरूर रहे। ऐसा

करने से ध्यान सुगमता से और शीघ्र फलप्रद होता है।

ध्यान के अनेक प्रकार हैं, साधक को अपने–अपने अधिकार, रुचि और अभ्यास की सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकार से अभ्यास करना चाहिये। परन्तु मन में इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही हैं। वह एक ही अनेक रूपों से अपने को धृत करवाते हैं। भक्त जिस रूप में उन्हें पकड़ना चाहे, वह उसी रूप में पकड़ में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हीं के रूप हैं। श्रीविष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी वे एक ही हैं। मार्ग के अनुभव भिन्न–भिन्न होते हुए भी सबके अन्त में प्राप्त होने वाला सत्य एक ही है। इसी सत्य के कोटिशः विविध प्रकाश हैं, हम किसी भी प्रकाश का अवलम्बन करके उस मूल प्रकाश को पा सकते हैं, क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्तिवाले दीखने पर भी वस्तुतः उस मूल सत्य से सर्वथा अभिन्न और सर्वथा पूर्ण ही हैं। वह स्वयं ही विभिन्न प्रकाशों में अवतीर्ण होकर अपने को अपने ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं। अतएव विभिन्न साधक उन एक अचिन्त्य शक्ति, अनन्त महिम, अनन्त कल्याण गुणगणसमन्वित सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, देशकालातीत, गुणातीत, सर्वलोकमय और सर्वलोकमहेश्वर भगवान के इस समग्र रूप को या परमभाव को समझकर किसी भी भाव से उनका ध्यान करें, अन्त में सबको वह एक ही नारायण प्राप्त होंगे, जिनकी प्राप्ति का और स्वरूप का वर्णन बुद्धि और मन–वाणी से सर्वथा अगम्य है। अतएव साधकों को न तो अपना इष्टरूप छोड़ना चाहिये, और न दूसरे के इष्ट को नीचा या अल्प मानना चाहिये। इस प्रकार की एकत्व बुद्धि से ध्यान का अभ्यास करने पर बहुत–से विघ्न सहज ही टल जाते हैं और शीघ्र ही परम सफलता प्राप्त हो सकती है।

ध्यान अभेद या भेद, अथवा अद्वैत या द्वैत इन दोनों भावों से किया जाता है। अभेद में भगवान् के ध्यान के निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद है। इसी प्रकार भेद में भी भगवान् के ध्यान के निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद है।

अद्वैत या अभेद

निर्गुण निराकार–अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवाङ्मनसगोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार–अज अविनाशी सर्वलोकमहेश्वर मायापति सृष्टिकर्ता।

निर्गुण साकार–अज अविनाशी गुणातीत मायातीत दिव्य विग्रह भगवान्।

सगुण साकार–अज अविनाशी लीलाविहारी अपनी दिव्य प्रकृति के साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान। या विराट् विश्वरूप परमात्मा।

द्वैत या भेद

निर्गुण निराकार–जीवों पर दया करने वाले सर्वशक्तिमान् न्यायकारी निर्गुण परमात्मा।

सगुण निराकार—जीवजगत् का संचालन करने वाले सर्वलोकमहेश्वर, विश्वरूप, विश्वकर्ता, विश्वभर्ता और विश्वसंचालक प्रभु।

निर्गुण साकार—भक्तों की सुधि लेने के लिये माया मनुष्य रूप धारी वस्तुतः स्वरूप से सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार—भक्तों के साथ लीला करने वाले समस्त गुणनिधि लीलामय भगवान।

इनके फिर एक-एक के अनेक रूप हैं। इन सब रूपों में एक ही सत्य तत्व अनुस्यूत है और वह सब में सब जगह सब ओर से सब ही भाँति परिपूर्ण है। बुद्धिमान् भगवत्कृपापात्र साधक अपने-अपने भावों के अनुसार सब रूपों को किसी एक रूप में पर्यवसित कर उसका ध्यान करता है। कोई-कोई अल्पमेधस् साधक अपने इष्ट को भिन्न मानकर भी ध्यान करते हैं परन्तु उनका वह ध्येयतत्व अल्प और सीमित होने के कारण उन्हें तात्कालिक फल भी अल्प और सीमित ही मिलता है। जो अल्प और सीमित है वही नाशवान् है, अतएव ऐसे साधक अविनाशी नित्य तत्व की प्राप्ति से दीर्घकाल तक प्रायः वंचित ही रह जाते हैं। अवश्य ही यदि उनका इष्ट सात्विक हुआ तो उसकी कृपा से कालान्तर में पुनः साधन में प्रवृत्त होकर वे चरमतत्व की प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं, अतएव न करने वालों से तो वे अल्प की उपासना करने वाले भी अच्छे ही हैं।

वास्तव में भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना अपनी अल्पज्ञता का परिचय देना मात्र ही है। भगवान् के तत्व को स्वयं भगवान ही जानते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता, कि भगवान ऐसे ही हैं। बहुत दूर की बात कहने वाले महान् दार्शनिक भी बहुत इधर की ही कहते हैं। अतएव किसी की भी निन्दा न कर भगवान के शास्त्रवर्णित और सन्तजनसेवित सभी स्वरूपों को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिये। साधक का भाव ऊँचा होगा तो सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर परिपूर्णतक भगवान् उसे अपना ही ध्यान समझेंगे और उसके फलस्वरूप अपने स्वरूप की प्राप्ति ही उसे करा देंगे। अस्तु।

अब ध्यान के कुछ प्रकार या विधियाँ जानने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ध्यानयोगी साधक के लिये उपयुक्त स्थान, काल और आसन कौन-सा उत्तम है, एवं उसे किस आसन से बैठकर कितने समय तक ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

स्थान—एकान्त हो, पवित्र हो (जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों) और जहाँ यज्ञ, जप, पूजन, भजन, स्वाध्याय, भगवत्चर्चा आदि होते हों, परन्तु ध्यान के समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदी तट, देवमन्दिर हो, जहाँ शब्दादि न होते हों या उत्तम और सूक्ष्म शब्द होते हों, जो मनोरम और सुन्दर वायु से सेवित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ कंकड़ और गरम बालू न हो, सुपुष्प और धूपादि से सुगन्धित हो, जहाँ भगवान् के सुन्दर चित्र लगे हों। ऐसा निर्जन स्थान न मिले तो अपने घर में ही अलग स्वच्छ एकान्त सा स्थान चुन लेना चाहिये।

काल—ध्यान के लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल अथवा रात्रि का अन्तिम प्रहर है, उस समय स्वाभाविक ही बुद्धि सात्विक और संस्कारशून्य सी रहती है। परन्तु अन्य समय भी

ध्यान किया जा सकता है। हाँ, भोजन के बाद तुरन्त ही ध्यान करने से प्रायः ध्यान नहीं होता। भूखे पेट ध्यान अच्छा होता है।

आसन—आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, पहले कुशासन, उस पर मृगाजिन और उस पर शुद्ध वस्त्र बिछाना चाहिये। ऊन का या केवल नरम कुशों का आसन भी बिछाया जा सकता है। ऐसे आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठना चाहिये।

आसन—स्वस्तिक और पद्मासन सबसे उत्तम हैं। इन आसनों में कष्ट भी नहीं है और चित्त भी जल्दी समाहित होता है। बार-बार आसन बदलना ठीक नहीं, एक ही आसन से निश्चल होकर बैठना चाहिये।

समय—प्रतिदिन तीन घण्टे ध्यान किया जा सके तो बहुत उत्तम है, नहीं तो कम-से-कम एक घण्टे तो ध्यान का अभ्यास जरूर करना चाहिये। हो सके तो तीन बार में तीन घण्टे कर ले—प्रातःकाल, सन्ध्या समय और रात को।

ध्यान के समय शरीर, मस्तक और गले को सीधा रखना चाहिये। रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकर न बैठे। जब तक वृत्ति सर्वथा ध्येय के आकार की न बने, शरीर का बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मन में उठती रहें तब तक इष्टमन्त्र का जप करता रहे और बारम्बार चित्त को ध्येय में लगाने की चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषों से बचे रहने के लिये भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यान के लिये है। यों तो साधक को तो सभी समय, सभी क्रियाओं में खाते-पीते-सोते, उठते-बैठते, सुनते-बोलते, चलते-फिरते, चित्त को संसार की व्यर्थ स्फुरणाओं से रहित करके अपने इष्ट का चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यान के समय आँखें मूँद लेनी चाहिये अथवा नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

अब अद्वैत-द्वैत दोनों प्रकार के ध्यानों के कुछ प्रकारों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जाता है। विशेष बातें अपने-अपने पथप्रदर्शक से सीखनी और जाननी चाहिये।

अभेद-ध्यान

१. आँखें मूँदकर या नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिररूप से जमाकर साधक चित्त की ओर देखे और उसमें जो कुछ भी वस्तु प्रतीत हो, उसी को कल्पनामात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्त में स्फुरित प्रत्येक वस्तु का त्याग करते-करते शरीर, इन्द्रियय, मन और बुद्धि की भी सत्ता न रहने दे। सब का अभाव करते-करते कुछ काल में जब सारे दृश्य पदार्थ चित्तवृत्ति से निकल जाते हैं, तब सबके अभाव का निश्चय करने वाली वह एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यही शुभ और शुद्ध वृत्ति है। और सब दृश्य प्रपंच का अभाव करने के बाद यह स्वयं भी शान्त हो जाती है। फिर त्याग, त्यागी या त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाता। इसके बाद जो कुछ बचा रहता है वही चैतन्यघन परमात्मा है। वह असीम है, अनन्त है और उसी ने सब द्रष्टा और भोक्तावृत्तियों को ग्रस लिया है। और अब वह उपाधिहीन अकेला ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह 'सर्वत्र' भाव भी उसी में कल्पित है। वह तो वही है, उसका न कोई वर्णन कर सकता है और न चिन्तन! इस प्रकार विचारपूर्वक

दृश्य प्रपंच का अभाव करके, अभाव करने वाली वृत्ति का भी परमात्मा में लय कर देना चाहिये।

२. आँखें मूँदकर इस प्रकार विचार करे कि इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनों में जो कुछ देखने सुनने या जानने में आता है वह सब एकमात्र परमात्मा ही है। वही विश्वरूप में प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् उन्हीं से निकला है, उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में लय हो जायेगा। यह सृष्टि, स्थिति और संहार की लीला उनके अपने ही अन्दर उन्हीं के द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीला का एक खिलौना मात्र हूँ और जैसे सारी लीला वही है, वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते–करते अपने सहित संसार और संसार के पदार्थों को एकमात्र परमात्मा को स्वरूप में लीन करके फिर ऐसा निश्चय करने वाली बुद्धि को भी परमात्मा में विलीन कर दे।

६. आँखें मूँदकर या नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करे कि मैं जो कुछ भी देख सुन और जान रहा था वह सब स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिनरात, देश–वेश सब कुछ स्वप्न में मेरे ही अन्दर मेरे ही संकल्प के आधार पर स्थित थे। सब केवल मेरी की कल्पना थी। अब मैं जग गया हूँ तब वे सब कुछ नहीं रहे, मैं ही मैं बच रहा हूँ, वह मैं परमात्मा से भिन्न नहीं हूँ, परमात्मा ही अपने संकल्प से यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विचार द्वारा परमात्मा में चित्त को विलीन कर दे।

७. **एकमात्र विज्ञान**-आनन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही है। उनके सिवा न कोई वस्तु है, और न कोई स्थान ही है जिसमें कोई वस्तु रह सके। केवल एक वही परिपूर्ण है। उनका यह ज्ञान भी उन्हीं को है। क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवेद्य हैं। सब कुछ उन्हीं में कल्पित है, या वही सब कुछ हैं। वे ही सत् हैं वे ही असत् हैं, वे सत् भी नहीं हैं, असत् भी नहीं हैं। वे आनन्दमय हैं, अवर्णनीय हैं, अचिन्त्य हैं, उनका यह अवर्णनीय आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। यह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, ज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, अमल है, अकल है, अनामय है, अनन्त है, शान्त है और आनन्दमय है। बस, वह आनन्द ही आनन्द है। आनन्द के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, है सो आनन्द ही है। इस प्रकार ब्रह्म के आनन्दमय तत्व की मूर्ति चित्त में प्रकट करके अपने को उसमें विलीन कर दे।

८. शरीर के सभी मर्मस्थानों की भिन्न–भिन्न नाड़ियों के पृथक्–पृथक स्थान और कौन–सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है, इस शरीर विज्ञान को क्रिया रूप में भली भाँति जानकर तब आँखें मूँदकर ध्यान के लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अत्यन्त अचल, नित्य, आदि–मध्य और अन्तरहित, स्थूल होते हुए ही सूक्ष्म, अवकाश रहित, स्पर्श रहित, चक्षु से अगोचर रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य

प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्शवाले सर्वव्यापी ब्रह्म का ध्यान करे, और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

९. आँखें मूँदकर अपने अन्दर इस प्रकार देखे कि कन्द से निकले हुए बारह अंगुल नली वाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशरयुक्त, कर्णिका समन्वित, प्राणायाम द्वारा विकसित आठ दलवाले हृदय कमल पर सब प्राणियों के हृदय में रहने वाले, पुरुषोत्तम, देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति भगवान् विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म है, भगवान के अंग केयूर और कुण्डल तथा अन्य आभूषणों से सुशोभित हैं, उनके वक्षःस्थल में श्री वत्सा का चिन्ह है। पद्मोदर सदृश ओष्ठ हैं। प्रसन्न वदन हैं, मन्द-मन्द निर्मल हँसी हँस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिक के समान वर्ण है, पीताम्बर पहने हुए हैं और अपने दिव्य प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके यह देखे कि मैं उन्हीं में विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं रहे।

१०. आँखें मूँदकर भीतर इस प्रकार देखें कि प्रकृतिरूपी कर्णिका से युक्त, अष्ट ऐश्वर्य रूपी दलों से शोभित, विद्यारूपी केशर और ज्ञानरूपी नलिका से समन्वित, वृहत् कन्द से संलग्न, और प्राणायाम द्वारा खिला हुआ हृदय में एक कमल है। उस कमल में सर्वत्र तेजोमय, सर्वतोमुखी शिखाओं से सुशोभित, जगत् के कारण ईश्वर रूपी हव्यवाहन वैश्वानर महाग्नि देह को चरणों से लेकर मस्तक तक तप्त करते हुए निर्वात दीप की तरह निश्चल ज्योतिरूप से विराजित हैं, उनकी उन ज्योतिर्मय लपटों में नीलपद्म के अन्दर विद्युत की लता की भाँति दीप्तिमान पीतवर्ण, विश्वचराचर के कारण रूप वैश्वानररूपी अक्षर देवता परमात्मा स्थित है। वह परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार निश्चय करे। और अपने को उन में विलीन कर दे।

११. आँखें मूँदकर अथवा अभ्यास हो जाने पर प्रत्यक्ष सूर्य मण्डल में देखें कि दिव्य रथ के अन्दर पद्मासन पर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमल सदृश मुख मण्डल वाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं, उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापों को नाश करने वाला है, वे सब लोगों को अभय देने वाले हैं। उनके ललाट की आभा पद्म के गर्भपत्र के समान लाल है। वे समस्त जगत् के प्रकाशक और सब लोगों के अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान् आदित्य का दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह आदित्य मुझसे अभिन्न है। और इस निश्चय के साथ ही अपने को उनमें चित्त वृत्ति के द्वारा विलीन कर दे।

१२. कर्णिका और केशर से युक्त अष्टदल हृदय कमल में चन्द्रमण्डल के मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्मा को देखे और ऐसा निश्चय करे कि उस आत्मा में मैं ही हूँ और वह आत्मा रूप में अमृतवर्षा करने वाली चन्द्रकिरणों से घिरा हुआ हूँ, शिर में स्थित अधोमुखी षोडशदल कमल से गल-गलकर अमृत की धाराएँ हजारों प्रकार से मेरे चारों ओर बह रही हैं। वह अव्यय परमात्मा परब्रह्म मैं ही हूँ।

तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम !

डा० कृष्णवीर सिंह तोमर

मेरे नयनों में बस जाओ, योगेश्वर प्रभु राम।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

पद नख का चरणामृत पीकर, जीवन सफल बनाऊँ
जब–जब जन्म होय पृथ्वी पर, तेरा ही यश गाऊँ।।
सब धामों से धाम बड़ा तेरा, सिद्धगुफा सुख धाम।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

रामरती को यती बना, श्री प्रभु जी ने की थी दाया।
पतितों से भी अति पतितों को, भवसे पार लगाया।।
रामरती संग तात भ्रात को, दर्शन दिये अभिराम।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

जग तारण, कारण श्री प्रभुजी, छोड़ हिमालय आये।
आकर अवनीतल पर प्रभु ने, शिष्य अनेक बनाये।।
मुलखराज और नरसिंह मूरति श्री चन्द्रमोहन शुभनाम।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

हरिहरानन्द, गोपालानन्द, प्रभु शरण तेरी में आये।
गृहस्थी से योगी बना, गौलोक धाम पहुँचाये।।
मानिक चन्द्र दलाल भी प्रभु को, भेजे सुबह और शाम।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

श्री प्रभुजी की शरण में आकर, खाली कोई न जाये।
योग सुधा अक्षयनिधि पाकर, जीवन सफल बनाये।।
जीवन तत्व प्रकाशित कर, तूने हरलिए रोग तमाम।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

कृष्ण के 'कृष्ण' हृदय में प्रभु जी, ज्ञान की ज्योति जगाओ।
काम, क्रोध, मद, लोभ मोह के, अंध को दूर भगाओ।।
रात–दिना वन्दन करता मैं, पकड़ूँ तेरे पाँव।
तेरे दर्शन से होते हैं, पूरण सबके काम।।

नववर्ष २००३ इत्यवसरेऽभिनन्दनम्

द्वारिका प्रसाद शर्मा (लखनऊ)

वर्षे नवीने पुनरागता वयं, किमस्य गर्भे न हि कोऽपि वेत्ति।
जानीम एतत्भगवत्कृपातः, कृतं नूत्न वर्षांध प्रभात दर्शनम्।। (१)

पुरारब्ध कर्माणि हि यानिकानि, वर्षे नवे तानि समाप्तिमीयुः।
एषा कृपा स्यान्नव वर्ष काले, कृतार्धतां याम प्रभोः प्रसादात्।। (२)

संलक्ष्य प्राप्तौ परमः प्रयत्नः, कार्यः परं मात्रफलं विहाय।
निश्चयप्रचं तत्र विराजतेतराम्, कश्चिन्नियन्ता परमा हि सत्ता। (३)

अस्मत्कृते हानिलाभौ स एव, निन्दास्तुती जन्ममृती तथा च।
नियच्छति सर्वं नियामकः सः, अधीनतां यान्ति समस्त प्राणिनः।। (४)

स्वेषां परेषां हितकामनानां, स्वाधीनता स्वान्तिक एवं वर्तते।
या चे भवद्भ्यः परमेश्वरात् शिवात्, आयुर्धनं कीर्तिम ज्जीवनं च।। (५)

हिन्दी रूपान्तर

विनीत

नये वर्ष में हम पुनः आ गये हैं, यह कौन जाने छिपा इसमें क्या है।
जाना यही बस भगवत्कृपा से, प्रथमाहन् दर्शन ही केवल किया है।। (१)

गत वर्ष के कार्य अपूर्ण जो थे, नये वर्ष में पूर्ण हो जायें वो अब।
प्रभु की कृपा हो यही हम सभी पर, नव वर्ष के काल में पूर्ण हों सब।। (२)

प्राप्त्यर्थ सत्लक्ष्य निमित्त यत्न, निश्चित करें बस फलाशा होत्यक्ता।
सहाय विश्वेश अवश्य होंगे, वे ही नियन्ता परमा ही सत्ता।। (३)

वही लाभदाता वही हानि दाता, यशस् अपयशस् के वही हैं प्रदाता।
जीवन तथा मृत्यु के भी नियन्ता, चर के अचर के वही है विधाता।। (४)

स्वाधीनता बस यही है हमारी, शुभकामनायें सभी के लिये हों।
अतः याचना है परमेश शिव से, शतायुष्कता साधन मान युतता लिये हों।। (५)

धर्म का प्रयोजन

स्वामी हृषीकेशाश्रमजी महाराज

जीवन में धर्म की आवश्यकता है या नहीं, यह विचार बहुत पुराना है। जड़वादियों की धारणा के अनुसार जीवन को सुखी तथा समृद्ध करने के लिये धर्म का प्रयोजन वाञ्छनीय नहीं है। उन लोगों का मत है कि भौतिक सुख के बाधास्वरूप होने पर धर्म त्यागने योग्य है। यह वस्तु-वादियों का सिद्धान्त है। वास्तविकता तो यह है कि जो देहात्मवादी इस संसार के भोगों को ही सर्वस्व मानते हैं, वे धर्म तथा उससे प्राप्त ऐहिक और पारत्रिक कल्याण का प्रयोजन स्वीकार करने में कुण्ठित हो जाते हैं। **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्'** इस वाक्य का मर्मानुसरण कर इसी जीवन को सुखमय बनाने के लिये जितना प्रयास करना उनके लिये सम्भव है, उतना करने में वे अवश्य ही तत्पर रहते हैं। पर ऐसे जड़वादी लोगों को भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सुख-प्राप्ति के लिये हरसम्भव प्रयास करने पर समस्त क्षेत्रों में वह मंगल दायक ही होगा—ऐसी धारणा नहीं की जा सकती। वास्तविक तथ्य तो यह है और बहुधा यह देखा जाता है कि जो लोग धर्म पर विश्वास करने में संदिहान (संदेह में पड़े हुए) हैं और इस जीवन के सुख स्वच्छन्दता का विधान करना ही जिनके लिये एकमात्र परम प्राप्तव्य वस्तु है, वे लोग भी अपने को परमसुखी के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर पाते हैं। वस्तुतः ऐहिक सुख चाहने वाले स्वभाव के जीव ही संख्या में अधिक हैं। यदि वे सब-के-सब सुखी होते तो इस पृथ्वी में हिंसा-द्वेष नहीं रहता और इसके प्रभाव से समाज के सभी व्यक्तियों में चिरमैत्री प्रतिष्ठित होती तथा सबका जीवन-व्यष्टि जीवन एवं सम्पूर्ण जगत् मधुमय हो जाता। पर वास्तविकता कुछ और ही है—जो कुछ हमलोगों को अनुभूत हो रहा है उसका चित्र इसके विपरीत ही है। अतः प्रश्न उठेगा कि तृष्णा की निवृत्ति आज भी क्यों नहीं हुई ?

उपभोग्य पदार्थ अनुपलब्ध होने पर भी अथवा भोग्य वस्तु सुलभ रहने पर भी उन पदार्थों का ग्रहण जब तक असम्भाव्य है (इन्द्रियों के वैकल्य होने के कारण) तब तक तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती। **'तृष्णै का तरुणायते'** यह वास्तव में सत्य है, कवि की कल्पनामात्र नहीं। अभिलाषाओं का आविर्भाव वस्तु की प्राप्ति तो कदाचित् ही सम्भव होती है। अतः अभिवाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति की अपेक्षा अप्राप्ति की संख्या ही अधिक है। भूत-भौतिकवाद में जहाँ धर्म का प्रयोजन स्वीकृत नहीं है, वहाँ ऐसे जीव-मानस में अभिलाषाओं का आविर्भाव होकर सभी प्राप्ति की सीमा पर आ जायेगा—यह धारणा सम्भवतः कोई नहीं कर सकेगा। साथ ही यह भी कह देना अच्छा होगा कि जो लोग धर्म को अत्यन्त प्रयोजनीय समझते हैं और अपने जीवन के लिये अविच्छेद्य है— ऐसी धारणा करते हैं; उनकी अभिलाषाओं की पूर्ति भी सदा होती रहेगी—यह भी कल्पनामात्र है। चाहे जड़वादी हो या धर्माश्रयी अथवा चिद्वादी—सभी की अभिलाषाओं की पूर्ति कदाचित् ही होती है। जड़वादी मुख्यतः ऐहिक जीवन की सीमा के अन्दर ही सब कुछ आबद्ध

रखना चाहते हैं। परन्तु धर्माश्रयी जीवन को केवल ऐहिक सीमा से सीमित रखना नहीं चाहते। वे तो इस जीवन के पूर्व जीवन तथा परवर्ती–जीवन के सम्पर्क में गम्भीर आस्थाशील होते हैं, जो कि जड़वादियों के विचार में केवल कल्पनामात्र है। कार्य–कारण सम्बन्ध की परम्परा को कोई युक्तिवादी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। साधारण विचार से वह अच्छा या बुरा–ये दोनों कार्यरूप ही हैं। अतः इनके कारण का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। जैसे कोई महान् विद्वान है तो कोई नितान्त मूर्ख है। इसका कारण विद्या की प्राप्ति तथा उसका अभाव है। ऐसे ही कोई दुःखी या सुखी है। इसका भी कारण कुछ अवश्य है। इन कारणों का अनुसन्धान करने के लिये केवल वर्तमान जीवन की सीमा पर्याप्त नहीं है। इससे पूर्व अथवा वर्तमान जीवन के माध्यम में से कुछ घटनाएँ हैं, उनसे भविष्य के परिणाम का अस्तित्व स्वीकार कर यदि कारण–निर्णय में प्रयास किया जाय तो उसमें विशेष सफलता प्राप्त होने की सम्भावना है। देहात्मवादी की दृष्टि में वर्तमान जीवन की समाप्ति के साथ ही सब समाप्त हो जाता है, वे वर्तमान जीवन के स्पन्दन तथा रतक्ष की अवधि को प्रारम्भ और समाप्ति समझते हैं। परन्तु धर्माश्रयी और चैतन्यवादी के लिये केवल इतना ही स्वीकार करना नहीं होता। यद्यपि स्पन्दन के द्वारा जीवन का अस्तित्व तथा उसके अभाव को मरण या जीवन की समाप्ति की साधारण सीमा के निर्दिष्ट होने पर भी जीवन–मरण के पूर्वापर की अवस्था जो कि कार्यरूप में युक्तिसिद्ध तथा अवश्यम्भावी है उसको अस्वीकार करना सम्भव नहीं है कार्य की अपेक्षा कारण सूक्ष्म होता है, और कारण की अपेक्षा कार्य स्थूल होता है। स्थूल वस्तु दृष्टिगोचर होने पर भी सूक्ष्म वस्तु का निरूपण करने के लिये दृष्टि की सूक्ष्मता अपरिहार्य है। इस विचार से दृष्ट वर्तमान जीवन स्थूल और पूर्व जीवन उससे सूक्ष्म है। स्थूल वस्तुओं के प्रमाण विभिन्न प्रकार से निर्णीत होते हैं। शब्द स्थूल होने पर भी चाक्षुष (आँखों द्वारा) प्रत्यक्ष नहीं है। वह तो श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है। इस प्रकार विषयों का ग्रहण भिन्न–भिन्न इन्द्रियों द्वारा होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अगोचर पदार्थों का अनुमान के द्वारा निर्णय करना होता है।

इसी प्रकार से अन्य प्रमाणों के सम्बन्ध में भी निर्दिष्ट नियम है। स्थूल देहसंघात प्रत्यक्ष दृष्टि के गोचर होने पर भी उसमें जो सूक्ष्म शक्ति का अधिष्ठान है, वह देह–संघात की भाँति प्रत्यक्ष प्रमाणाधीन नहीं है। यदि युक्तियाँ उपयुक्त आधार के आश्रय से युक्त होती हैं तो देखा जायेगा कि प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़कर अन्यान्य प्रमाण की आवश्यकता निश्चित रूप से अपरिहार्य है। अतः स्थूल दृष्टि से जो जाना जायेगा उसका केवल अस्तित्व स्वीकार करना होगा और जो कुछ स्थूल दृष्टि के द्वारा प्रकाशित नहीं है। उसका अस्तित्व ही अलीक तथा अपेक्षा ग्रहण योग्य नहीं है। भौतिकवाद में ऐसे अनेकों पदार्थ हैं जो स्थूलदृष्टि से ग्रहण योग्य नहीं होते। वे भी विशेष साधनों के द्वारा विशेष नियम से ग्रहण के योग्य हैं। अतः स्थूल दृष्टि के द्वारा जो अनुभव नहीं होता उसका अस्तित्व अस्वीकार करना होगा–यह सिद्धान्त युक्तिसम्मत नहीं है। यहाँ जो प्रसंग

आया है उसके सम्बन्ध में इस प्रकार के दृष्टिकोण के द्वारा विश्लेषण किया जाना चाहिये। केवल अतिरिक्त युक्तियों से भी ठीक होता है कि कार्य रहने पर कारण वैसे ही रहेगा। अतः जो जीवन कार्य रूप में प्रत्यक्ष गोचर हो रहा है, उसके अन्तराल में पूर्व जीवन तथा अतीत जगत् अवश्य था। जिसका प्रतिफलन इस जीवन में हो रहा है इसी तरह इस जीवन का प्रतिफलन भविष्य जीवन में होगा। दृश्य पद के रहस्य का उद्घाटन करने के लिये योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने कहा है—**'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** जन्म तथा कर्म के भोगों के मूल में भी प्रतिकूल तथा अनुकूल कुछ कारण है, जिसके कारण जन्म–कर्मों के भोगों में भिन्नता परिलक्षित होती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जन्मान्तरवाद अवश्य स्वीकार है।

उत्पत्ति केवल घटना मात्र नहीं है, इसके पीछे कोई भूमिका है। जिसका प्रतिफलन इसी जीवन में हो रहा है। इस वर्तमान जीवन के अतिरिक्त पूर्व पर भविष्य जीवन रहता है; अर्थात् पूर्व–जीवन का कार्य इस जीवन में अवश्यम्भावी रूप में अर्थात् फल के रूप में रहेगा और भोगायतन शरीर रहेगा ही। कर्म के हेतु विभिन्न प्रकार के हैं और इसीलिये इन कर्मों का परिणाम जो भोगायतन देह–जीवन शरीर है वह भी भिन्न प्रकार का होने को बाध्य है। इसके तात्पर्य का अनुभव करने पर सत्कर्म का फल सत् और दुष्कर्म का फल असत् अपने अपने कर्मानुसार अवश्य होगा।

धर्म का प्रयोजन इसीलिये आवश्यक है कि वह स्वभाव प्रवृत्त यथेच्छ कार्य से जीवों को निवृत्त कर कर्मानुसार कल्याण की ओर अग्रसर होने के लिये सहायक होता है। भारतीय चिन्तनधारा की दिशा–विशेषता इसी में है। सामान्यतः जीवनगत साम्य होने पर भी मनुष्य श्रेष्ठ जीव है और मानव श्रेय–पथ में अग्रसर हो सकें, इसीलिये धर्म की आवश्यकता स्वीकृत है। साधारण जीव की पंक्ति में यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि मनुष्य की जीवन यात्रा एक ही रूप में चलती दीखती है तो भी मानव जीवन की विशेषता धर्म के द्वारा ही चिन्हित होती है। नीति–वाक्य प्रसिद्ध ही है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

(हितोपदेश)

इस श्लोक का तात्पर्य धर्म को लक्ष्य कर ही उक्त हुआ है। अतः यदि कोई मानव यथार्थ मानव के रूप में परिगणित होना चाहे तो उसके धर्म–अनुशासनों को मानते हुए चलना पड़ेगा। अर्थात् आचरण करना पड़ेगा, नहीं तो उसकी मानवता पाशविकता से कलंकित हो ही जायेगी। इस प्रकार विचार–विश्लेषणों से जड़वादियों का वह मत जो धर्म को अप्रयोजनीय समझता है, निरर्थक हो जाता है।

जिस कारण जीवन पूर्वकृत कर्मों का ही प्रतिफल है और जिस कारण जीव मात्र ही आनुकूल्य का प्रत्याशी होता है, इसीलिये सत्कर्म धर्मबोध के द्वारा सम्पन्न होता है। अतः जीवन में सुख–शान्ति तथा कल्याण प्राप्त करने के लिये धर्म का प्रयोजन स्वीकार करना ही होगा।

धर्म की दो दिशाएँ हैं—सामान्य और विशेष।

इसीलिये धर्मनिर्णायक वेदादि–शास्त्रों में सामान्य तथा विशेष धर्म दोनों विचारणीय हैं—ऐसा निर्णय किया गया है। धर्म का जो व्यापक रूप है, वह मानव के लिये सम्यक् विचारणीय है। केवल मानव ही नहीं, मानवेतर जीवों में भी इसका प्रकाश विशेष अवस्था पर देखा जाता है। इस प्रसंग में कुछ विवेचन करने का प्रयास किया जाता है। शास्त्र में ऐसी उक्ति है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

(मनुस्मृति ६/९२)

इस शास्त्रवाणी में उल्लिखित धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये धर्म के दस सामान्य लक्षण हैं। ये सद्गुण–समूह जिसमें वर्तमान हैं वह धार्मिक है। और इसके विपरीत जिसमें धृतिहीनता तथा क्षमाहीनता आदि दोष देखे जाते है उसको अधार्मिक कहते हैं। इन सद्गुणों में न्यूनाधिक अवश्यमेव रहेगा और उसी के अनुसार धर्म के प्रकाश में भी तारतम्य घटित होगा। यहाँ पर यही कहना है कि उपर्युक्त शास्त्र–वाक्य में जिसको धर्म कहकर निर्णय किया गया है, उसको स्वीकार करने पर और मानव–जीवन में उसको वास्तविकता का रूप देने पर मानव–समाज का कल्याण होगा या अकल्याण—ऐसी शंका कोई नहीं करेगा। ऐसा कोई उन्मादी ही होगा जो इस पर भी यह कहने में समर्थ हो कि धृति (धैर्य) आदि सद्गुणों का धारण मानव जीवन की सफलता सम्पादन करने में बाधा है।

जीवन को कलुष से मुक्त कर ज्योतिर्मय महाजीवन में परिणत करने के लिये सद्गुणों के समाश्रय की आवश्यकता है, शास्त्रों में उन्हें धर्म संज्ञा दी गयी है। इसीलिये उन सद्गुणों का समाश्रय धर्मपथ पर चलने के लिये नितान्त आवश्यक है। अतः अभ्युदय के प्रशस्त पथ पर चलने के लिये उसके परम सहायक धर्माचरण के द्वारा ही श्रेय–लाभ हो सकता है। चित्त शुद्धि की पराकाष्ठा प्राप्त हो जाने के बाद ही स्वरूप स्थिति रूप मोक्ष के द्वारा जीव उन्मुक्त होता है।

समाज के संरक्षण के हेतु धर्म का आविर्भाव हुआ है। जो धारण कर लेने पर समाज की रक्षा करने में समर्थ है, वही धर्म है। अतः जो समाज ऊपर लिखे धर्म के मर्म को न समझकर उससे दूर हटकर अथवा विच्युत होकर आचरण करेगा वह समाज अपने अस्तित्व की रक्षा करने में कभी समर्थ नहीं होगा। केवल गोष्ठी अथवा जन–समष्टि को ही यदि समाज समझा जाय और उसमें कोई नियम, श्रृंखला तथा शिष्ट–सम्मत आचार–व्यवहार का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो वह समाज के रूप में परिगणित नहीं हो सकता। गोष्ठी को समाज के रूप में तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह धर्म–सम्बन्धी अनुशासन का यथार्थरूप में अनुसरण कर चले। इसी सामाजिक व्यवस्था की दृढ़ नींव डालने के लिये ही धर्म का प्रयोजन है यहाँ पर धर्म का विशेष अर्थ—वर्तमान काल में विशेष अधिकार–रक्षा के लिये प्रयुक्त धर्माधार अथवा धर्मीय अनुशासन होता है जो धर्म की विशेष दिशाएँ हैं, वे विशेष अवस्था एवं अधिकारों की अपेक्षा से प्रयुक्त हो सकती हैं। सबके लिये धर्म एक ही नहीं हो सकता, क्योंकि सबकी अवस्था तथा अधिकार एक ही प्रकार का होगा—ऐसा सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य

नहीं है। धर्म की यह दिशा विशेष रूप से चिन्हित है। उसका कारण यह है कि विशेष अवस्था तथा अधिकार को लक्ष्य करके ही धर्म प्रयुक्त हो सकता है और इसके द्वारा विशेष अधिकृत व्यक्ति को ही सुफल मिल सकता है। परन्तु धर्म के जिस सामान्य रूप की चर्चा संक्षेप में इसके पूर्व की गयी है, वह सबके लिये सम्पूर्ण क्षेत्र में निःसंदेहरूप से ग्राह्य होगी।

इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस स्थिति में किसी के साथ विरोध का अवकाश नहीं रहेगा। ज्ञान के उन्मेष के साथ ही साथ ज्ञातव्य की सीमा-वृद्धि भी होती है। जो जीव मानव-संज्ञा प्राप्तकर धराधाम पर आ पहुँचा उसके ज्ञानोन्मेष होने पर वह यही जानना चाहेगा कि जगत् और जगत् के साथ उसका सम्पर्क किस प्रकार सम्बन्धित है। यह देह-इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि- ये सब चेतन एवं अचेतन शरीर ही सब कुछ है, या इसके अतिरिक्त भी कुछ और है ? यदि उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो ये देहेन्द्रियाँ किस प्रयोजन से विषय-प्राप्ति के लिये प्रयास कर रही हैं ? और यदि देहादि के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व है तो वह क्या है ? **'को नु आत्मा किं ब्रह्म'** (श्रुति)। श्री शंकराचार्य पाद की भाषा में **'कस्त्वं कोऽहम्'** 'तुम कौन हो' और 'मैं कौन हूँ ?' तुम और हम किसके बन्धन में आबद्ध हैं ? क्यों वह एक जड़ पिण्ड है अथवा कोई चिरचेतन (चिरंतन) आत्मा ? इस जिज्ञासा की जिस दिन पूर्णतः परिसमाप्ति होगी उस दिन यह तत्वबोध समुदित होगा-

'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्।'

उसी दिन जीवन धन्य हो जायेगा, जिस दिन जीव शिवत्व को प्राप्त होगा। उस परम प्राप्ति के साधन के रूप में धर्म का पथ ही सम्यक् रूप से आश्रयणीय है। धर्म-पथ के आश्रय अर्थात् धर्माचरण के द्वारा ही मानव का (आत्मसाक्षात्कार के) अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होगा। ※※※

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

(कठोपनिषद् श्लोक १२)

अर्थात्-जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मा रूप से स्थित हैं, जो अद्वितीय और सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सम्पूर्ण जगत् में देव मनुष्यादि सभी को सदा अपने वश में रखते हैं, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ परमेश्वर अपने एक ही रूप को अपनी लीला से बहुत प्रकार का बना लेते हैं। उन परमात्मा को जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने अन्दर स्थित देखते हैं, उन्हीं को सदा स्थिर रहने वाला-सनातन परमानन्द मिलता है, दूसरों को नहीं।

रोम-रोम दिव्य ज्योति प्रभु के छलकि रही

डा० कृष्णवीरसिंह तोमर

रोम-रोम दिव्य ज्योति प्रभु के छलकि रही, ऐसे दीनानाथ महाप्रभु रमालाल है।
राई से सुमेरू करें, सुमेरू से पुनि राई, कालहू के काल ऐसे महाकाल है।
पापिन के पाप हरें, दुष्टन को क्षमा करें, संस्कारी बालकन के जन्मे जंजाल है।
'कृष्ण' कहे ऐसे हैं शिव के स्वरूप प्रभु, जटाजूट शिर सोहे गले रुद्रमाल है।
कोटि चन्द्र मिल चाहे कितनो हुं प्रकाश करें, तोहु मेरे 'चन्द्र' सी प्रकाश नहीं होत है।
व्योम चन्द्र केवल शीतलता प्रदान करे, मेरो 'चन्द्र' जन्मों के पापों को धोत है।
शून्य चन्द्र दुनियाँ के चक्कर में पड़ि रहो, मेरो 'चन्द्र' कहे सोही दुनियाँ में होत है।
अरे 'कृष्ण' 'चन्द्र' मोहन सौ गुरू मिल्यो, तेरो 'चन्द्र' कहे सौही दुनियाँ में होत है।

हृदयाँगन में बस जाओ प्रभो, यह चाह लगी मेरे मन में,
हों दिव्य ज्योति के नित दर्शन, और ध्यान रहे तेरे चरनन में।
तेरो नाम लिए से कष्ट मिटे, थकूं नहीं गुण उचरन में।
हे प्रभु 'कृष्ण' मन श्वेतकरो, तेरो नाम रहे मेरे अधरन में।
गुह पूरिये प्राणों से प्यारी लगे, प्रभु आश्रम माहि बसायें रहो।
गुरु भाइयों के मध्य में मस्त रहूँ, नित योग को ज्ञान करायें रहो।
तेरी बाँकी ये झाँकी को दर्श करूँ, चरनन विचलित लगायें रहो।
हे 'कृष्ण' कृपा करदो मुझ पर, गुरु देव में ध्यान लगाये रहो।

धोती अरू कुर्ता, शरीर पर लसे याके, यज्ञोपवीत की शोभा अतिमारी है
मुखमण्डल कोटि सूर्य सी दमकि रहो, दाढ़ी अरू जटाजूट जैसे त्रिपुरारी है
भोग से वे दूर रहें, योगी याकी शरणमहे, कोटि-कोटि बालबच्चे तोहु ब्रह्मचारी है।
ऐसोदेव कहीं नहीं, जैसे मेरे गुरुदेव, 'कृष्ण' कहे सारो जग यापे बलिहारी है।

विनय पद

इन्दू शर्मा, गोहाना

१. करती हूँ मैं वन्दना, नत सिर बारम्बार।
तुम्हें गुरुदेव परमात्मा, मंगल शिव साकार।।
२. अंजलि पर मस्तक किये, भक्ति विनय के साथ।
नमस्कार मेरा तुम्हें, हे अनाथों के नाथ।।
३. दोनों करके जोड़कर, मस्तक घुटने टेक।
तुमको ही प्रणाम मम, शत-शत कोटि अनेक।।
४. पाप हरण मंगल करण धरूँ चरण कमल का ध्यान।
काटो विघ्न अनेक मम तेज बलबुद्धि निधान।।
५. भक्ति भाव शुभ भावना, मन में भर भरपूर।
श्रद्धा से तुमको नमन, हे गुरुदेव हजूर।।
६. ज्योतिर्मय जगदीश हे ! तेजोमय अपार।
परम पावन पुरुष परम तुमको है बारम्बार नमस्कार।।
७. सत्य ज्ञान आनन्द के परम धाम महाराज।
है पुलकित तन-मन मेरा, ध्याऊँ सदा हे योगिराज।।

मनो दुर्निग्रहं चलम्

द्वारिका प्रसाद शर्मा (लखनऊ)

मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का कारण हुआ करता है, यह निर्विवाद सत्य है। मन ही स्वयं संकल्प करता है और विकल्प रूप में अपने अनुकूल वातावरण तैयार करके सुख पाने की चेष्टा में सदैव तत्पर रहा करता है। मन की चंचलता का वर्णन भगवान श्री कृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद् गीता में किया है। अर्जुन ने भगवान् के प्रति निम्न श्लोक में अपना संशय भगवान के समक्ष रखा है–

चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथी बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्।।

अर्थात् हे कृष्ण ! यह मन तो चंचल है, मथ देने वाला है। बलवान् है और दृढ़ है अर्थात् बड़ा पक्का है। इसका दमन करना तो मैं वैसा ही दुष्कर मानता हूँ, जैसा कि वायु को दमन करने के लिये चेष्टा करना।

इसके उत्तर में भगवान ने अर्जुन के इस जिज्ञासात्मक प्रश्न के समाधान में निम्न श्लोक द्वारा मन के चंचलत्व का प्रतिपादन तो किया है–

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात् हे महाबाहो अर्जुन, इसमें कोई संशय नहीं कि यह मन अत्यन्त कठिनता से निग्रह किया जाता है और यह चंचल भी है। परन्तु ऐसा नहीं है कि इसे वश में न लाया जा सके। हे कुन्ती पुत्र इसको वश में करने का एक ही उपाय है और वह है अभ्यास और वैराग्य। इन दोनों उपायों से इसको अपने वश में रखा जा सकता है।

हम सब देखते हैं इस संसार में मनुष्य मात्र आकृति से एक समान हैं। भगवान् की इस रहस्यमयी सृष्टि में जो जो अंग जहाँ–जहाँ सामान्यतया होते हैं, वह मनुष्यमात्र में यथास्थान हम पाते हैं। यद्यपि रूप, वर्ण, लम्बाई या छोटा होना, यह सब देशों की विभिन्न प्राकृतिक संरचना के कारण भिन्न–भिन्न पाया जायेगा, पर मूलतः सभी अंग प्रत्यंग प्रत्येक मनुष्य मात्र के एक जैसे ही दृष्टि गोचर होते हैं। अब रही बात विचारों की, जो कि मन का प्रमुख कार्य है। इसी मन के खोल ने ही तो सारे संसार को नचा रखा है।

एक साधु–सज्जन या महात्मा को देखिये और दूसरी ओर एक चोर डाकू और दुश्शील व्यक्ति को देखिये। मात्र विचारों की श्रेष्ठता से एक को हम महात्मा की उपाधि से विभूषित करते हैं और दूसरे को निकृष्ट कोटि के विचारों के कारण दुरात्मा या दुष्टात्मा कहा करते हैं। सारा प्रपंच और विस्तार इस नटवर–मन का ही है। इसीलिये आद्य शंकराचार्य ने कितनी सटीक बात कही है–

"जितं जगत्तेन मनो हि येन"

अर्थात् जिसने अपना मन जीत लिया है उसने सारा संसार ही जीत लिया।

इसी प्रकार भगवान श्री कृष्ण ने भी भगवद् गीता में इन्द्रियों की श्रेष्ठता को जहाँ स्वीकारा है, वहीं पर मन को दूसरे स्थान पर श्रेष्ठता अर्थात् इन्द्रियों से ऊँची स्थिति पर रखा है। हमारे मन की स्वीकृति होने पर ही वे इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य-व्यापारों में प्रवृत्त हुआ करती हैं—जैसे कि भगवद्वचन भी है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।

इसीलिये भगवान् श्री कृष्ण ने इस मन को निग्रहीत करने के लिये बार-बार अपने मुखारविन्द से श्रीमद्भगवद् गीता में उद्बोधित किया है।

मय्येव मन आधत्स्व, तथा **अन्यत्र मन्मना भव** इत्यादि।

श्रुति भगवती भी इस मन को शुभ संकल्पवान बनाने के लिये अनेक सूक्तों में भगवदाराधन का ही अवलम्ब लेती है।

तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।

वास्तव में मन अपार शक्तिमान है। यह वह भूत है जिसके यदि जनून सवार हो कि यह करना है तो दिन-रात उसी चिन्तन में लिप्त पड़ता है और न जाने क्या-क्या उसकी प्राप्ति के निमित्त करने को तैयार हो उठता है।

संक्षेप में, मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि मैंने निम्नांकित ५५ श्लोकों की रचना श्री सद्गुरुदेव के आशीर्वाद स्वरूप की है उसमें इसी मन को ही लक्ष्य रूप में इंगित करते हुए उसे उद्बोधन करने का तथा सन्मार्ग पर आरूढ होने का संकल्प लेने की कामना की है। यदि हमारा मन हमारे अनुकूल है और हम उसे अपने अनुसार चला ले जाते हैं शुभ कार्यों की ओर अग्रसर करने में तो क्या कहने, फिर क्या है जो मनुष्य और चाहे प्राप्त न हो। मन ही एकाग्र हो जाय तो जान लीजिये सफलता आपका चरण चुम्बन करेगी। इति शम्।

अब मैं निम्नलिखित स्वरचित श्लोकों को एक-एक करके लिखते हुए, उसके नीचे हिन्दी में उसका अर्थ भी अंकित इसलिये कर रहा हूँ जिससे संस्कृत से अनभिज्ञ हमारे पाठकवृन्द भी उसको बोधगम्य कर सकें। संस्कृतानुरागी महानुभाव तो मूल पढ़कर ही तृप्त हुआ करते हैं। अतः दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर तदनुसार ही यह प्रयास है।

क्रमशः

ईश्वर के अनन्त नाम हैं, अनन्त रूप हैं, अनन्त भाव हैं। उसे किसी नाम से किसी रूप से और किसी भाव से कोई पुकारे वह सबकी पुकार सुन सकता है; वह सबकी मनःकामना पूरी कर सकता है।

विशेष सूचना

'सिद्धयोग' अपनी आयु के ३५ वर्ष पूर्ण कर आगामी अप्रैल २००३ अंक के साथ ही ३६ वें वर्ष में प्रवेश पा रहा है। वार्षिक सदस्यता वाले पाठकों का शुल्क मार्च २००३ अंक के संप्रेषण के साथ ही समाप्त हो जायेगा। श्री रामनवमी पर आने वाले गुरु भाई-बहिन अपना शुल्क सवाई आश्रम पर आकर जमा करा देते हैं। किन्तु जो नहीं आ पा रहे हैं, उन्हें चाहिये कि वे मनीआर्डर द्वारा अपना वार्षिक शुल्क भिजवाने की व्यवस्था करें। सदस्यता शुल्क आचार्य दासलाल ब्रह्मचारी के नाम अथवा व्यवस्थापक 'सिद्धयोग' कार्यालय सवाई एत्मादपुर (आगरा) के पते पर ही भेजा जाना चाहिये। केवल सिद्धगुफा, सवाई अथवा व्यवस्थापक सिद्धयोग सवाई के नाम भेजे जाने पर मनीआर्डर सिद्धयोग कार्यालय तक नहीं पहुँच पायेगा। मनीआर्डर या तो वापिस चला जायेगा या अनधिकृत व्यक्ति के पास पहुँच जायेगा। इस प्रकार से हमारे पास आपका शुल्क नहीं पहुँचने की स्थिति में हम आपको पत्रिका भेजने में असमर्थ रहेंगे।

वे सभी इच्छुक गुरु भाई-बहिन जो सिद्धयोग के लिए अपना शुल्क भेजना चाहते हैं, कृपया मार्च माह के अन्त तक उपरोक्त सही पते पर मनीआर्डर अवश्य भिजवाने की व्यवस्था करें।

—संपादक

सिद्धयोग मासिक (पत्रिका) का विवरण

फार्म नं. ४

१. प्रकाशन का स्थान	–	श्री सिद्धगुफा, सवाई, आगरा (उ.प्र.)
२. प्रकाशन का अवधिक्रम	–	मासिक
३. मुद्रक का नाम	–	विनय गजानन शर्मा
राष्ट्रीयता	–	भारतीय
पता	–	कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, असई कलां, ताजगंज, आगरा।
४. प्रकाशक का नाम	–	विजय गजानन शर्मा कृते सिद्धगुफा प्रकाशन, सवाई आगरा।
राष्ट्रीयता	–	भारतीय
पता	–	श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (आगरा)
५. संपादक का नाम	–	आचार्य ब्र. दासलाल शर्मा
राष्ट्रीयता	–	भारतीय
पता	–	श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा)
६. स्वत्वाधिकारी	–	ब्रह्मलीन अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।

मैं विजय गजानन शर्मा यह घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

दिनांक–२८ फरवरी २००३

कृते, सिद्धगुफा प्रकाशन
विजय गजानन शर्मा

SIDDHYOG Regd. No. L.AG. 008

फरवरी-मार्च 2003

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक राष्ट्रीयस्तर का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुरुकृपा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एतमादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER
BOOK-POST

श्री

Jaya Karan Agrawal, Khoradia Bhawan, Lower
Rajwari Road, JHARIA (Jh.K.) 828 111

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

अर्थात्, जो जागते हुए पुरुष से दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुष के वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्मा के साक्षात्कार का प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, संनिकृष्ट और व्यवहित पदार्थों का एकमात्र ज्ञाता है और जो विषयों का ज्ञान प्राप्त करने वाले श्रोत्र आदि इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्संबंधी संकल्पों से युक्त हो।

प्रकाशक एवं मुद्रक :— विनय कुमार शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई डाली, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय खाक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, जोहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (एतमादपुर) आगरा से प्रकाशित। फोन : 792328

सम्पादक-अमर्यादा ॐ (डॉ.) सच्चिदानन्द शर्मा